विषय सूची

पहला

अन्न-समस्या

अन्न की समस्या मौजूदा हिन्दुस्तान की प्रधान समस्या तो है ही, उसका समाधान भारत की भावी-उन्नति की आधारशिला भी है। समस्या बहुत पुरानी है। एक शताब्दी पहले तक ही भारत में जनसंख्या की आवश्यकता के अनुपात से भूमि थी। पूरी उन्नीसवीं शताब्दी में महाकाल की प्रचंड ज्वाला जलती रही। परन्तु उसकी प्रचंडता १८९० से १९४० के बीच के पचास वर्षों में धीमी पड़ गई। फिर भी अधिकांश आबादी भूख और अर्ध भोजन की पीड़ा से तड़पती रही। इसी बीच देश में यातायात के साधनों का विकास तथा बर्मा-चावल के आयात की वृद्धि के कारण देश संभला और शनैः शनैः विस्तृत होनेवाला विषम रोग नियन्त्रण में रखा जा सका। परन्तु रोग कितना गहरा था, यह बंगाल के दुर्भिक्ष पर क्षणिक दृष्टिपात से ही ज्ञात हो जाता है। सरकारी आंकड़ों के हिसाब से अन्न की सिर्फ दो प्रतिशत कमी ने उस प्रान्त के पन्द्रह लाख प्राणियों को मृत्यु की धार में ढकेल दिया। तब से देश का ध्यान अन्न-समस्या की ओर आकृष्ट हुआ। केन्द्रीय और प्रान्तीय दोनों

सरकार वर्षों से "अधिक अन्न उपजाओ" आन्दोलन चलाने की चेष्टा कर रही हैं, फिर भी, अव्यवहारिक योजनाएँ, अपूर्ण वायदे और अन्न-आयात के केवल खर्चीले बिल ही मंत्रियों और सरकारी हुक्कामों की मेजों का सौन्दर्य बढ़ा रहे हैं।

अन्न सकट की व्याधि दिनों दिन बढ़ती ही चली जा रही है। एक ओर जनसख्या प्रत्येक वर्ष हजार में चौदह की दर से बढ़ रही है, अर्थात् हर वर्ष चालीस लाख से ज्यादा खानेवाले पैदा हो रहे हैं, दूसरी ओर जमीन की पैदावार बढ़ती ही नहीं है। निम्न लिखित आंकड़े इस तथ्य को स्पष्ट करते हैं:—

वर्ष	जनसंख्या (करोड़ में)	जोती गई कुल जमीन (करोड़ एकड़ में)	प्रति व्यक्ति जोती गई जमीन
१९११	२३.१३	२०.८	०.९० एकड़
१९२१	२३.३६	२०.५	०.८९ ,,
१९३१	२५.८९	२१.१	०.८२ ,,
१९४१	२९.५८	२१.५	०.७२ ,,

१९११ से १९४१ के बीच प्रतिव्यक्ति जोती जाने वाली कुल जमीन ९० एकड़ से घटकर .७२ एकड़ हो गई। व्याधि तो पुरानी है ही, निम्नांकित कारणों ने तंगी को चरम सीमा तक पहुँचा दिया। यह द्वन्द्व-वाद के विख्यात सिद्धान्त—परिमाणात्मक परिवर्त्तन से गुणात्मक परिवर्त्तन का ज्वलंत उदाहरण है।

हमें इस बढ़ती हुई तंगी की पृष्ठ - भूमि में नीचे लिखी घटनाओं के व्यापक प्रभाव पर विचार करना होगा:—

१. बर्म्मा से चावल-आयात का बन्द होना।
२. भूखे या अधपेटे रहने के खिलाफ सा. प्र. विरोध।

३. भारत के विभाजन का खाद्यान्न की पूर्ति पर बुरा प्रभाव।
तीसरी बात के प्रमाण में नीचे आंकड़े दिये जा रहे हैं :—
खाद्यान्न-उत्पादन १९४५-१९४६ में : लाख टनों में :—

	चावल	गेहूं	अन्य खाद्यान्न	योगफल
भारत (हैदराबाद सहित)	१८.५	५.९	१६.६	४१.०
पाकिस्तान	८.२	३.१	२ ०	१३.३
कुल उपज	२६.७	९.०	१८.६	५४.२

पाकिस्तान को एक ओर अखण्ड हिन्दुस्तान की कुल पैदावार का २४.५ प्रतिशत हिस्सा मिला, दूसरी ओर जनसंख्या का सिर्फ १९.५ प्रतिशत। परिणाम स्वरूप अविभाजित भारत के बनिस्बत खंडित भारत में ३० प्रतिशत खाद्यान्न की कमी हो गई। जब कि अविभाजित भारत में हम प्रत्येक वयस्क को प्रतिदिन १७ औंस अन्न दे सकते थे, विभाजित भारत में केवल १२ औंस ही दे सकते हैं। भारत सरकार द्वारा ४० लाख टन गल्ले की अनुमानित कमी का, उत्पादन और उपभोग के आंकड़ों से कोई सम्बन्ध नहीं है। सरकारी घोषणा केवल राशन की जिम्मेदारियों की आवश्यकताओं के ऊपर आधारित है।

अकाल जांच समिति की निम्नलिखित राय की ओर तो सरकार का ध्यान गया ही नहीं है। "देश की पूरी आबादी के लिये काफी अन्न की व्यवस्था करना सरकार का कर्तव्य है। केवल भूखमरी और अकाल रोकने के लिये ही नहीं, बल्कि देशवासियों को स्वस्थ तथा शक्तिशाली बनाने के लिये ऐसा करना लाजमी है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये सरकार को अपनी सारी शक्ति लगा देनी चाहिये।"

समस्त देश की जनता के लिये अन्न की आवश्यकता का निम्न दृष्टिकोण से होना चाहिये :—

१. ऐसा पौष्टिक भोजन जो पूर्ण माना जाय ;

२. ऐसा भोजन जिसे खाकर मनुष्य काम चला सकता है; और
३. ऐसा भोजन जिसके बल पर मनुष्य केवल प्राण की रक्षा कर सकता है।

हम पहिले को पौष्टिक भोजन, दूसरे को आवश्यक भोजन और तीसरे को क्षुधार्थ भोजन कहेंगे।

यदि किसी व्यक्ति को ३-४ औंस ही भोजन दिया जाय, तो किसी प्रकार वह जिन्दा तो रह सकता है; पर इस क्षुधार्थ भोजन का असर, आनेवाली नस्ल पर बहुत बुरा होगा। क्षुधार्थ-भोजन की दृष्टि से ही, प्रधानमंत्री के कथनानुसार, देश में काफी अनाज है, पर वह भी प्रत्येक परिस्थिति का सामना करने के लिये नहीं। देश के किसी ऐसे इलाके में जहां केवल उपर्युक्त दृष्टि से ही काफी अनाज हो, जरा सी गड़बड़ी के कारण भयंकर संकट उपस्थित हो सकता है। फिर इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये देश की जनता में उत्साह भी तो नहीं पैदा किया जा सकता है। क्षुधार्थ-भोजन के आधार पर देश की आवश्यकता की पूर्ति करने की योजना से बाढ़, अतिवृष्टि आदि साधारण प्राकृतिक दुर्घटनाओं से भयंकर उलट फेर हो सकते हैं।

इस तरह की सरकारी गणनासे कई हास्यास्पद परिणाम निकले हैं। भारत में चूहों की सख्या ८० करोड़ कही गई है। यह मान कर कि प्रत्येक चूहा प्रतिदिन ३ औंस अन्न खा जाता है, एक सरकारी पर्चे में बताया गया है कि प्रति वर्ष ७८ लाख टन अन्न चूहे चट कर जाते हैं। अतः क्यों न चूहों को मारने का आन्दोलन चलाया जाय और अन्न का आयात बन्द किया जाय? नाशक गैसों का प्रयोग लोगों को समझाया जाय और श्री मुंशी साहब वन महोत्सव के साथ मूषिका - विध्वंसक यज्ञ प्रारम्भ करें। आज से ६००० वर्ष पूर्व जनमेजयने भी तो सर्प-विध्वंसक यज्ञ किया था।

अन्न को व्यर्थ नष्ट होने से बचाने के लिये जो भी उपाय किये

जायें, मेरा उनसे कोई मतभेद नहीं है। चूहे भी हमारे अन्न को बर्बाद न करें। पर इस प्रकार की गणना से अन्न की कमी कतई दूर नहीं की जा सकती।

पौष्टिक भोजन की (जो भारतवर्ष की अधिकांश जनता को उपलब्ध नहीं है) चर्चा तो छोड़ ही दीजिये। यदि आवश्यक भोजन का भी, जो कम से कम २४०० कैलोरी यूनिट दे सके, प्रबन्ध किया जाय, तो भी ८० लाख टन, नहीं बल्कि २ करोड़ टन अन्न की आवश्यकता पड़ेगी। आज आवश्यक भोजन के लिये भी जितने अन्न की आवश्यकता है, उसका ७० प्रतिशत ही भारत उपजा सकता है। हाँ, यदि हम अधिक दूध, माँस, अंडे, तरकारियाँ और अन्यान्य वस्तुएँ उपजाने लगें, तो निःसन्देह अन्न की आवश्यकता कम पड़ेगी। अन्न के उपभोग में हम मात्रा एवं गुण का विरोधी अनुपात पाते हैं। यदि अन्न उच्चकोटि का नहीं है तो उसकी मात्रा अधिक होनी चाहिये। जिस भोजन में चर्बी और प्रोटीन की कमी रहती है उसमें स्टार्च का भाग अधिक रहता है। सामाजिक आवश्यकताएं, बीज की जरूरत, अन्न का सुखना आदि बातों का विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति के लिये प्रति दिन साफ किये हुए आधा सेर अनाज की आवश्यकता पड़ेगी। यानी हर एक व्यक्ति के लिये हमें ४॥ मन अनाज की जरूरत है इसका अर्थ यह हुआ कि ६ करोड़ टन अन्न की आवश्यकता है। इसके अलावे आधा करोड़ टन हमें प्रति वर्ष अन्न भंडार के बनाने में लगाना चाहिये। इस तरह पूरी आवश्यकता ६॥ करोड़ टन की हुई। सभी प्रकार के अन्नों का उत्पादन यदि हम ४॥ करोड़ टन मूतें, तो हमें २ करोड़ टन अन्न की कमी पड़ेगी। इस बात को ध्यान में रखना चाहिये कि ६ करोड़ टन के आंकड़े में दाल और अन्यान्य पूरक वस्तुएँ भी शामिल हैं। इस प्रकार ८० विराट व्यक्तियों के भोजन में प्रत्येक के लिये प्रति दिन १६ औंस अनाज, ४ औंस दाल और अन्यान्य पूरक वस्तुएं शामिल कर ली गई हैं। इस भोजन की

कैलोरी यूनिट २४०० से अधिक नहीं होगी।

अब इस बात पर विचार करें कि अन्न की इतनी कमी रहने पर भी हमलोग जीवन निर्वाह कैसे कर पाते हैं? भारतीय समाज को श्रेणीबद्ध किये बिना हम इस रहस्य को नहीं समझ सकते हैं। यहाँ की जनता निम्न वर्गों में विभाजित हैं तथा पूरी जनसंख्या के साथ उनकी संख्याओं का अनुपात इस प्रकार है—

१.	शहरी लोग ...	१५ प्रतिशत
२.	जमींदार और धनी किसान ...	५ ,,
३.	मध्यम किसान	१० ,,
४.	गरीब किसान और खेतमजदूरों का एक हिस्सा	३० ,,
५.	देहात के गैर-खेतिहर ...	२० ,,
६.	खेतिहर मजदूर	२० ,,

१ और २ वर्ग के व्यक्तियों को पूरा भोजन मिलता है। ३ को पूरे भोजन से कुछ ही कम मिल पाता है। अतः ४, ५ और ६ वर्ग के लोगों को ही अन्नाभाव के कारण सबसे अधिक कष्ट उठाना पड़ता है। नीचे विभिन्न वर्गों के लोग कितना खाते हैं और प्रत्येक वर्ग के हरएक व्यक्ति को कितना भोजन मिलता है, उसकी तालिका दी जा रही है।

श्रेणी	कुल जनसंख्या का प्रतिशत	जन-संख्या करोड़ में	ग की संख्या करोड़ में	प्रति व्यक्ति प्रति दिन खुराक अ स में	प्रति बालिग, प्रति दिन खुराक औंस में	खपत लाख टन में
१ शहरवासी	१५	५·४	४·३	१६	२०	८६
२. जमींदार तथा						

धनी किसान	५	१८	१४४	१९	२४	३५
३. मध्यम किसान	१०	३.६	२.१	१६	२४	७०
४. गरीब किसान	३०	१०८	८.६४	१२	१५	१३०
५. ग्रामीण गैरखेतिहर	२०	७२	५.७६	१२	१५	८१
६. खेत मजदूर	३०	७२	.७६	९	१२	७०
	१००	३६	२८.८	१३.८	१६.५	४८०
				औसत	औसत	

अन्न उपभोग की उपर्युक्त तालिका से, हमें यहाँ की दरिद्रता का भी एक चित्र मिल जाता है। यह तालिका साफ बतलाती है कि ४ करोड़ ८० लाख टन अन्न में ७० प्रतिशत जनता को प्रति मनुष्य प्रतिदिन १२ औंस का भोजन भी नहीं मिल पायगा।

अगर उत्पादन ४ करोड़ ८० लाख टन हो तो हर श्रेणी के लोगों को ऊपर दी गई तालिका के मुताबिक खुराक मिल जायगी। और अगर यही मकसद हो, जैसा कि श्री के० एम० मुंशी ने कहा है कि १२ औंस अन्न काम नहीं करनेवाले और १६ औंस अन्न काम करनेवाले बालिगों के लिये आवश्यक है, तब तो समस्या हल ही हो जाती है। केवल ३० लाख टन गल्ला जो बाहर से मंगाया जाता है, उसे पैदा करने की बात रह जाती है। इसी आधार पर हमारे प्रधान मन्त्री कहते हैं कि देश में काफी खाद्यान्न मौजूद है, समस्या सिर्फ गल्ले को छिपाये रखने की है। लेकिन वे भूल जाते हैं कि उनका यह हिसाब क्षुधार्थ भोजन के आधार पर लगाया गया है ऊपर की तालिका में मान लिया गया है कि आबादी के २० प्रतिशत हिस्से को राशन की आवश्यकता नहीं होगी। अर्थात् १६ औंस राशन, अगर परिवार के बालिगों को दिया जाय, तो उस परिवार के बच्चों की भी आवश्यकता पूरी हो जायगी। दूसरी बात यह है कि उसके पास आगे के लिये कुछ बच नहीं जायगा। यह स्थिति, खास कर ऐसे समय के लिये, जब कि प्रकृति प्रतिकूल हो जाय, बड़ी ही खतरनाक है।

आज देश में कुल खाद्यान्न की जो पैदावार है तथा बाहर से जो गल्ला मंगाया जाता है, उससे प्रति वर्ष, प्रति बालिग को ३४० से ३५० पाउण्ड, से अधिक नहीं दिया जा सकता है । इसका अर्थ यह हुआ कि ७० प्रतिशत से अधिक आबादी प्रतिदिन १४०० से १६०० यूनिट कैलारी से अधिक का भोजन नहीं कर पाती । यह औसत भी, जो हम लोगों ने कागज पर लगाया है, व्यवहारिक जीवन में नहीं पाया जाता । चौथी और पांचवीं श्रेणी के लोगों को प्रतिदिन १६ औंस भी खाद्य सामग्री नहीं मिलती । जब इस तबके के लोगों को पूरा अनाज मिल जाता है, तब वे भर पेट भोजन कर लेते हैं और इसका नतीजा यह होता है कि आगे आनेवाले दिनों में या तो वे आधा पेट खाते हैं या भूखे रहते हैं । यही कारण है कि मैं इसको हिन्दुस्तान का भूख-बजट के नाम से पुकारता हूं । इसी बजट को पूरा करने के लिये प्रधान मंत्री ने भी जनता से अपील की है ।

इस आधारभूत सत्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि आधा पेट भोजन पानेवाले लोगों को वर्ष के उन महीनों में, जब फसल तैयार नहीं होती, जिसे हम सूखा महीना कहते हैं, भूखों रहना पड़ता है और इस अवस्था में मामूली प्राकृतिक प्रकोप के कारण अगर अन्न की पैदावार में साधारण भी क्षति पहुंच जाय तो भूख मरने वालो की संख्या में वृद्धि होने लगती है । और इस बड़े पैमाने पर भूख से मरने की स्थिति का नाम अकाल है ।

यह बराबर याद रखना चाहिये कि इस "भूख- बजट" में जनता को आगे के लिये कुछ बचाकर रखने की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती है । फलतः गल्ले का भंडार गायब हो जाता है और जनता भविष्य के लिये अपने को सुरक्षित नहीं पाती । अन्न का भंडार तो रखना ही पड़ेगा चाहे सरकार रखे, या गांव की सहयोग समितियां या व्यक्ति रखें ।

अब हम उपज के आँकड़ों को लें। सम्पूर्ण देश में कुल २४ करोड़ एकड़ जमीन जोत के अन्दर आ चुकी है, जिसमें आज केवल १७ करोड़ एकड़ में ही खाद्यान्न पैदा किया जाता है। १९४७ ४८ में साढ़े बारह प्रतिशत बीज, बर्बादी आदि को छोड़कर कुल ४१० लाख टन खाद्यान्न पैदा हुआ, जिसमें चावल और गेहूँ का सम्मिलित उत्पादन २४० लाख टन है। न खेती का विस्तार ही हो रहा है और न उत्पादन वृद्धि का कोई लक्षण ही दीख पड़ता है। यह निराशाजनक परिस्थिति देश को आर्थिक व्यवस्था को अस्त व्यस्त कर जनता को उन्नति का मार्ग ही अवरूद्ध कर रही है। १९४३-४४ में खाद्यान्न की अधिक उपज अवश्य हुई थी, किन्तु उसके बाद से ही उत्पादन का ह्रास होने लगा है। निम्नांकित तालिका इसे बतला रही है :—

	१९३६–३९	४१–४२	४३ ४४	४६-४७	४७ ४८
खाद्यान्न	१००	९३	१०७	९७	९६
कपास	१००	१०९	८९	५१	५२
जूट	१००	८२	७७	६६	८३
तेलहन	१००	९४	१०४	१००	१०१
विविध	१००	११२	११६	१२१	१२२
औसत	१००	९५	१०६	९६	९७

उत्पादन और आवश्यकता की इतनी चौड़ी खाई खाद्यान्न - पूर्ति की समस्या को तो विषम बना ही रही है, औद्योगिक उत्पादन को भी अवरुद्ध कर रही है। हिन्द-सरकार ने खाद्यान्न पूर्ति के लिये अबतक अत्यधिक आयात की नीति अपनाई है। साधनों के अपव्यय एवं गति शून्य अर्थ व्यवस्था ने भारत की विदेशी मुद्रा—बचत को अत्यधिक कम कर दिया है। विगत वर्षों में हिन्द के संचित स्टर्लिंग बचत में ८०० करोड़ रुपये की कमी हो गई है। हिन्द सरकार के रिजर्व बैंक के डिपोजिट

में भी कई सौ करोड़ रुपये कम हो गये हैं। अन्तर्राष्ट्रिय जगत में दान भेंट की रिश्तेदारी सर्वदा नहीं चलती। इस अत्यधिक निर्यात ने, विदेशी विनिमय को अत्यन्त दुष्कर बना दिया है। ऐसी परिस्थिति पैदा हो चुकी है कि भारत या तो अधिक खाद्यान्न उपजाये या मृत्यु का आह्वान करे।

सन् १९४९ में सरकार ने ५५ लाख टन अधिक गल्ला पैदा करने की घोषणा की थी, पर अभी तक वह भी पूरी नहीं हो सकी है। गलत आंकड़ों और रिपोर्टों के चक्कर में पड़कर, भारत सरकार ने अन्न समस्या के साथ जो मखौल किया है, उससे तो स्थिति और संगीन हो गई है। बिहार का ही उदाहरण ले लें। विकास विभाग ने अपने सबसे हाल की रिपोर्ट में दावा किया है कि विभिन्न विकास योजनाओं की मदद से उन्होंने १६६ हजार टन अधिक गल्ला पैदा किया है। लेकिन राज्य के कुछ हिस्सों में वास्तव में गल्ले का दावार गिर गई हैं प्राकृतिक कारणों से नहीं, आबपाशी के जो साधन थे, उन्हें ठीक हालत में नहीं रखने के कारण केवल गया और पटना के जिले में सिंचाई के साधनों के बिगड़ जाने से काफी पैदावार घट गई है। अतः इस तरह के हिसाब से कोई लाभ नहीं होता।

अन्न संकट को हल करने के लिये अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन योजनाओं और सामाजिक तथा आर्थिक सुधारों को एक साथ मिलाकर रास्ता निकाला जा सकता है। जिनकी गिनती कभी दीर्घकालीन योजना में की जाती थी उसे आज ही पूरा करने का सवाल बन गया है, और जिसे हम अल्पकालीन योजना में शुमार करते थे, उसे तत्काल अमल में लाने की आवश्यक्ता उठ खड़ी हो गई है। जैसे जमीन की बेदखली को रोकने तथा उचित लगान निर्धारित करने के प्रश्न को हम एक दिन भी टाल नहीं सकते। 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन का तब तक कोई नतीजा नहीं निकलेगा, जब तक सारे देश के गाव के

गरीबों को यह भरोसा नहीं दिलाया जाय कि उनके कब्जे की जमीन से उन्हें कोई बेदखल नहीं कर सकता, तथा पैदावार का मुनासिब हिस्सा ही लगान के रूप में लिया जायगा। उदहेद कमीशन ने भी इस सवाल को अन्नाभेद सवाल से सम्बन्धित माना था। फेमिन कमिशन की रिपोर्ट का यह अंश हम नीचे दे रहे हैं:—

"गैर कायमी काश्तकारों के लिये जमीन पर उनके अधिकार का समय तथा लगान की रकम ऐसी होनी चाहिये, जिससे अच्छी खेती करने का उनमें उत्साह पैदा हो सके। इस आवश्यक सिद्धांत पर ही काश्तकारी कानून को आधारित रहना चाहिये। किसी क्षेत्र के काश्तकारी कानून से वहां के रैयतों को खेती करने की प्रेरणा मिलती है या नहीं, या किसी क्षेत्र में प्रचलित काश्तकारी कानून पैदावार बढ़ाने के रास्ते में रुकावट तो नहीं पैदा करता, इन बातों की जांच सावधानी से की जानी चाहिये।"

यह कितने दुख की बात है कि पंडित जवाहरलाल नेहरू जी को कृषि-सुधार तथा अन्न की पैदावार से कोई सम्बन्ध ही नहीं मालूम पड़ता। अभी हाल में ही दिल्ली के एक प्रेस प्रतिनिधि से उन्होंने कहा कि उसका (कृषि सुधार सम्बन्धी कानूनों का) अन्न-समस्या से क्या सम्बन्ध है?

अन्न उत्पादन की बाधाएं अब तक बढ़ती ही चली गई है। अर्थ, खेती का तरीका तथा कृषि प्रणाली की अनेक समस्याओं का समाधान निकालना है। व्यक्तिगत चेष्टा के सिवा सम्मिलित प्रयत्न भी अत्यावश्यक है। किसी भी सरकार के लिये ऐसे विशाल देश में इतने कम समय में लाखों सिंचाई योजनाओं को खड़ा करना और उन्हें व्यवस्थित रीति से चलाते रहना असंभव सा है। यह तभी संभव हो सकता है, जब गांव की जनता प्रोत्साहित हो और सिंचाई कार्यों को सम्मिलित रूप से अपने हाथ में ले। इसके लिये...

१. राज और खेतिहरों के बीचवाले सभी मध्यवर्त्तियों को मिटा देना

२. कब्जे की गारंटी, और

३. भूमि का पुनर्वितरण; आवश्यक है।

खेती के लिये पानी का इन्तजाम करने के अहम सवाल पर भी कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया। १९ वीं सदी के आरम्भ में एक अमरीकी पत्र को अपनी रिपोर्ट देते हुए कार्ल मार्क्स ने कहा था कि अंग्रेजी साम्राज्यवादियों ने हिन्दुस्तान में सिंचाई के साधनों की, जिनपर यहां की खेती निर्भर करती है, मरम्मत आदि की घोर उपेक्षा की है। खेती के सम्बन्ध में इस बात को ध्यान में रखना चाहिये कि सिंचाई के अभाव में अच्छे बीज, खाद, तथा अन्य चीजें भी बेकार हो जाती हैं। कभी कभी तो पानी के अभाव में दो-दो या तीन-तीन बार खेत में बीज जल जाते हैं या अति-वृष्टि से वह जाते हैं। अतः पानी के लिये अगर साधारण गारंटी भी किसानों को नहीं रहे, तो फिर उनके लिये अच्छे बीज, खाद आदि पर खर्च करना कठिन हो जाता है।

प्राचीन|काल में ऋषि, राजाओं को बराबर समझाते थे कि वे खेतों को नक्षत्र के भरोसे न रखें। नक्षत्र के भरोसे यानी वर्षा के भरोसे खेतों को रखने को वेद की भाषा में "देवमातृका" कहते हैं। ...... "न कश्चित् देवमातृका"—कोई राजा खेतों को नक्षत्र के भरोसे न रखे। यह उपदेश बारबार प्राचीन ग्रन्थों में आया है। नारद ने हस्तिनापुर के राज-भवन-उद्घाटन के समय में पूछा था।

"कच्चिद्राष्ट्रे तडाग नि पूर्णानिच बृहन्तिच
मानशो विनिविष्टानि न कृषि र्देवमातृका"

— महाभारत सभापर्व

सिंचाई के साधनों के अभाव तथा किसानों की माली हालत खराब रहने के कारण आबाद जमीनों की पैदावार नहीं बढ़ पाती है। अगर इन दोनों कठिनाइयों को दूर कर दिया जाय, तो किसानों में एक

नई आशा एवं उत्साह पैदा होगा और वे अपने कठिन परिश्रम से देश की पैदावार को कम से कम २० प्रतिशत तो अवश्य ही बढ़ा देंगे। आबाद जमीन की पैदावार बढ़ाने के साथ साथ कम से कम १० करोड़ एकड़ नयी जमीन को भी हमें खेती के अन्दर लाना होगा, तभी जमीन पर जो आज भारी बोझ पड़ा हुआ है, उसे हम कम कर सकते हैं। 'एक घटा देश को' कार्यक्रम के आधार पर गांव की जनता को संगठित कर आबाद जमीन की पैदावार बढ़ाना तथा सरकार द्वारा खेतिहर पलटन की भर्ती कर, नयी जमीन को खेतीके अन्दर लाना ये दोनों ही आज हमारी अन्न योजना के मुख्य अंग होने चाहिये। आज हमारे देश में मुख्य प्रश्न पैदावार का है।

कंट्रोल सम्बन्धी नियम चाहे कितने भी सफल क्यों न हों, उनमे समस्या हल नहीं हो सकती। अन्ततोगत्वा वस्तुकी कमी को दूर करके ही परिस्थिति पर हम विजय प्राप्त कर सकते हैं। अगर हमें अन्न उत्पादन में अन्न युद्ध की नीति अपनानी है, तो हमें तत्काल २० लाख व्यक्तियों की एक किसान सेना संगठित कर आवश्यक औजारों को जुटा लेना चाहिये। हमारे कारखाने कृषि के औजार बनाने लग जांय। सभी प्राप्य टैंकों को मशीन हलों में परिणत कर देना चाहिये। नई भूमि को जोत में लाने की योजना को सफल बनाने के लिये जितनी सैन्य शक्ति और मेकैनिकल फौज की आवश्यकता है, उतनी जुटा ही लेनी चाहिये। विदेशी विभाग को अपनी सारी शक्ति से विदेशों से ज्यादा से ज्यादा कृषि के आवश्यक औजारों को प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिये।

इस महान कार्य के लिये राष्ट्र को तैयार करने के लिये हिन्दुस्तान के ग्रामीण जीवन से सामन्तवादी व्यवस्था के चिन्हों को मिटाना नितान्त आवश्यक है। मौजूदा सरकार में न तो राष्ट्र को ही इसके लिये तैयार

करने की क्षमता है और न अनुकूल सामाजिक वातावरण ही पैदा करने की। असली लड़ाई तो प्रकृति और सरमायादारी से है। आज शासन की बागडोर जिनके हाथों में है, वे न तो कोई ऐसी लड़ाई ही छेड़ना चाहते हैं और न ऐसी लड़ाई छेड़ने की क्षमता ही रखते हैं। युद्ध के पैमाने पर अन्न समस्या को हल करने का जो नारा आज सरकार दे रही है, वह बिलकुल ही खोखला है। सरकार के पास इस समस्या को हल करने के लिये न तो योजना है और न दृढ़ भावना ही।

दिल्ली में मुख्य-मंत्रियों का सम्मेलन इस निश्चय पर पहुँचा कि अगर गल्ला वसूली का काम सफलतापूर्वक चलाया जाय तो, समस्या हल हो जायगी। लेकिन इस प्रश्न पर भी सरकार विशेष चिन्तित नहीं है। ऐसे संकटकाल में जब कि पैदावार कम हो, गल्ला छिपाने की प्रवृत्ति देश के लिये अत्यधिक घातक सिद्ध हो सकती है। सन् १९४१ में और आज भी, जिस प्रकार गल्ले की कीमत बढ़ती जा रही है, वह न तो उस समय ही और न आज ही न्यायसंगत मानी जा सकती है। आर्थिक संकट के साथ कुछ सामाजिक घटना का संयोग स्थापित होता है, तभी मूल्य में इस प्रकार की वृद्धि होती है। सरकार को या तो लगातार छः महीने तक बाजार में इतना गल्ला जुटाना पड़ेगा कि दामों का पेट स्वतः टूट जाय, अथवा जीवन के आवश्यक पदार्थों में व्यक्तिगत व्यापार को बिलकुल रोक देना होगा। इन दोनों के बीच का कोई रास्ता नहीं सकता। पहला हल शायद आर्थिक दृष्टि से सम्भव न हो सके, अतः दूसरे सुझाव पर अमल करना ही एकमात्र रास्ता रह जाता है। ऐसा साहसपूर्ण कदम उठाना शायद भारत सरकार के बूते के बाहर है। लेकिन हमें याद रखना चाहिये कि "फेमिन कमीशन" ने अपने सुझावों में इस बात की कार्रवाई के लिये जोरदार सिफारिश की थी।

व्यवहार में यह बात साबित हो चुकी है कि पहले दिन से स गू

किये गये नियन्त्रण से नियन्त्रण नहीं लागू करना ही अच्छा है। आज की हालत में नियन्त्रण के सिवा और कोई दूसरा रास्ता नहीं, लेकिन रास्ते में न छोड़कर इसे वहां तक लागू करना चाहिये, जहां तक वास्तव में उसकी आवश्यकता है। सरकार इस रास्ते पर उतनी दूर तक नहीं जाना चाहती, जितनी की उसे चाहिये। फलतः राशनिंग और तथाकथित गल्ला वसूली, दोनों कामों में सरकार अब तक असफल रही है। हम जरा विस्तार से इस प्रश्न पर विचार करें। वर्तमान राशनिंग द्वारा देश की ४१ प्रतिशत आबादी की भोजन-व्यवस्था की जाती है, जिसका ब्यौरा इस प्रकार है :—

१९४७

नियमानुसार निर्धारित राशनिंग	(स्टेचुटरी राशनिंग)	५ करोड़ ३६ लाख
अनियमित राशनिंग	(ननस्टेचुरी राशनिंग)	६ करोड़ ९२ लाख
नियंत्रित वितरण	(कन्ट्रोल डिस्ट्रीब्यूशन)	२ करोड़ ८ लाख

लेकिन वास्तव में यह केवल पहली श्रेणी अर्थात् नियमानुसार निर्धारित राशनिंग क्षेत्र के लोगों तक ही सीमित है, जिनकी संख्या कुल आबादी का १५.४ प्रतिशत मात्र ही है। इसमें ८० प्रतिशत शहरों के लोग हैं और २० प्रतिशत मात्र गांव के। लेकिन इस तबके को खिलाने के लिये भी, जिनमें ५ करोड़ ३६ लाख आदमी आ जाते हैं, १२ औंस फी बालिग के हिसाब से हमें ५० लाख टन गल्ले की आवश्यकता पड़ेगी। सरकार इस मांग को गल्ला वसूली तथा बाहर से अनाज मंगा कर इस प्रकार पूरी करती है :—

	देश की पैदावार (लाख टन में)	गल्ला वसूली (लाख टन में)	आयात (लाख टन में
१९४७	३८५	३८	२३
१९४८	४२६	२५	२८

'अन्न समस्या' —खोज परिषद्

लेकिन आबादी के १५.४ प्रतिशत लोगों को भी १२ औंस की गारंटी सरकार के लिये देना सम्भव नहीं हो सका। सरकार को पर्याप्त अनाज प्राप्त नहीं हुआ। अनाज आज बागी हो गया है और जैसा कि हर सरकार 'बागी' को गिरफ्तारी के लिये हुक्मनामा निकालती है, वैसे ही दिल्ली सरकार ने 'बागी' अनाज की गिरफ्तारी के लिये 'गल्ला वसूली' नामक वारंट जारी किया है।

सरकार ने अनाज को जितना ही अपने पास लाने की कोशिश की, अनाज उतना ही सरकार से दूर भागता गया। ऐसा क्यों हुआ! अनाज के विदेशी व्यापार पर सरकार का एकमात्र एकाधिकार और अन्य देशी व्यापार पर भी आंशिक एकाधिकार है। कन्ट्रोल रहने के बावजूद इस तरह अनाज के गायब होने के कारण पर सरकार ने कभी भी गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं किया। ऐसी आर्थिक तथा मानवीय स्थिति का हल केवल शक्ति प्रयोग द्वारा नहीं हो सकता। सब से पहिले इस बात को अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि गल्ला वसूली नाम ही गलत है। यह तो जबरन जप्ती है और इसके लिये जो दाम दिया जाता है उसकी शकल तो मुआवजे की है, इसे हम मूल्य नहीं कह सकते।

सस्ते दाम पर, इस जबरन गल्ला-जब्ती से अगर अनाज को कोई लाभ पहुंचता तो कुछ सन्तोष भी होता, लेकिन सरकारी नीति से किसी भी उद्देश्य की पूर्ति नहीं हुई, न तो (क) अनुत्पादक वर्ग को १२ औंस प्रतिदिन के हिसाब से राशन मिल सका (ख) न अन्न की कमी की बराबरी हो सकी (ग) न मूल्य ही नीचे गिर सका (घ) न गल्ले का भंडार ही जम सका और (च) और न उत्पादन ही बढ़ सका। केवल (क) अपने वादा को पूरा करने में ('बदले हुए वादे' कहना ज्यादा ठीक न होगा) (ख) अकाल को रोक रखने में (ग) दाम का बोझ एक तपके (१५.४ प्रतिशत आबादी) के अनुत्पादक लोगों के कन्धों से

हटाकर दूसरे तबके (१८.६ प्रतिशत आबादी) के अनुत्पादक लोगों के कन्धों पर डालने में (घ) और कुछ जमीनों में खेती बन्द करा कर पैदावार घटाने में ही, सरकार सफल हो सकी है।

इस असफलता का क्या कारण है ? शक्ति प्रयोग के आधार पर आर्थिक नीति को आगे बढ़ाना कठिन ही नहीं असम्भव है। 'हिन्दुस्तान की अन्न समस्या' नाम की पुस्तक में श्री प्रभाकर सेन ने ठीक ही कहा है :—

"तब हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि सरकार ने गल्ला वसूली के लिये अनाज का जो दाम रखा, उसमें तथा चालू बाजार-दर में कोई मेल ही नहीं था। अतः जितना गल्ला सरकार वसूल करना चाहती थी उतना गल्ला सरकार को नहीं मिल सका। फूडग्रेन पालिसी कमिटी ने भी अपनी इन्टरिम रिपोर्ट में उल्लेख किया है कि इस बात की आम चर्चा लोगों में है कि गल्ले का जो मूल्य किसानों को दिया जाता है, वह उत्पादन के लागत खर्च के बराबर भी नहीं होता। न लागत पूंजी तथा श्रम पर ही उसमें कोई लाभ की गुंजाइश होती है, और न रोज बढ़ती हुई मंहगी से ही उसका कोई सम्बन्ध रहता है।"

परन्तु हिन्द सरकार पूंजीपतियों का इतना ज्यादा गुलाम हो चुकी है कि अब उसे कृषि जन्य वस्तुओं का मूल्य घटाने में कोई संकोच नहीं है। हार्दिक इच्छा रखते हुए भी, औद्योगिक श्रम की मजदूरी नहीं घटा सकती है, क्योंकि मजदूर ज्यादा संगठित और सचेत हैं। वह शायद मजदूरों की छटनी भर कर सकेगी। वह जीवन-व्यय को कम करने का भ्रमात्मक नारा लगा कृषि जन्य वस्तुओं के मूल्य कम करने में मजदूरों का सहयोग प्राप्त करने की चेष्टा भी कर सकती है। आम तौर पर मूल्य घटाने का कोई विरोध न हो सकता। परन्तु सभी वस्तुओं का मूल्य ज्यों का त्यों रखते हुए केवल कृषि जन्य वस्तुओं का मूल्य कम करने से

ग्रामीण उत्पादकों का अत्यधिक शोषण ही होगा।

इस्टर्न इकानामिस्ट (पूंजीवादी पत्रिका) ने निर्मम हो १२ अगस्त १९४९ को लिखा था "हमें उद्योग और कृषि जन्य वस्तुओं के मूल्यों के विषम सम्बन्धों को बढ़ाते ही जाना चाहिये। क्योंकि इसी से पूर्ण आर्थिक विधान सम्भव है। दुनियां प्रत्येक के देश में कृषि का लाभ औद्योगिक लाभ से आधा रहता है। कृषि और उद्योग के विषम सम्बन्ध को, भारत जैसे पिछड़े देश को उन्नति के पथ पर अग्रसर करने के लिये, और अधिक विषम बनाये रखना ही आवश्यक है। यह विवरण नीति दूषित अवश्य मालुम पड़ती है किन्तु यह विषमता जानबूझ कर सदा कायम रखी जाती रही है। "हमें, पूंजीवादी अर्थ-शास्त्रियों तथा उनके उच्च हुक्कामों के और रोष को समझने के लिये विभिन्न अन्नों के उत्पादन आंकड़ों को अपने अपने मूल्य की दृष्टि से देखना चाहिये।"

कृषि आमदनी का ब्योरेवार विवरण
(करोड़ रुपये में)

अन्न	१९४१-४२	१९४६-४७
१. चावल	३,५९७	८,३६४
२. गेहूं	१,०१२	२,००७
३. ज्वार	१७८	८७६
४. बाजरा	१७६	३७२
५. मक्का	१५०	२६५
६. रागी	९७	१४७
७. जौ	१८१	४८४
८. चना	३५८	१०६३
९. ईख	६२	३३०
१०. तिल	६१	२०६

११. मूंगफली	२३०	८५९
१२. सरसो	१२८	५५३
१३. अलसी	६९	१०२
१४. अंडा दूध		१४
१५. रुई	४४३	७०१
१६. जूट	२३३	५५६
१७. चाय	६२३	५३४
१८. काफी	१०	४०
१९. तम्बाकू	२००	४७२
सभी अन्नों का कुल मूल्य	७,९८३	१७,६७५
अन्य अन्नों का मूल्य	३९९	९४६
कुल मूल्य	८,३८२	१८,९२१

मैंने उपर्युक्त तालिका में केवल दो वर्षों को लिया है। कृषि जन्य वस्तुओं का मूल्य १९४२ में जान बूझ कर कम रखा गया। १९४३ में अर्थात् लड़ाई शुरू होने के ३ वर्ष के बाद, मूल्य को बढ़ाया गया। किन्तु मूल्य बढ़ाने पर भी कृषि की आमदनी में केवल ३ प्रतिशत की ही वृद्धि हो पाई है। निम्नलिखित तालिका इस बात को स्पष्ट करती है:—

	१९३९—४०	१९४२—४३
कृषि आय, करोड़ रुपये में:	९५२७	१०३०२
प्रति व्यक्ति कृषि आय: रुपये में:	४९	८३
कुल आय	१९९४३	३३७१४
कुल आय में कृषि आय का प्रतिशत	४९	९३

३ प्रतिशत की छोटी आय-वृद्धि भी भारतीय पूँजीपतियों को बर्दाश्त नहीं। कृषि जन्य वस्तुओं का मूल्य घटाने की भयंकर शक्तियाँ चल

रही है। गांव, उपनिवेश की तरह, पूँजीपतियों की वृद्धि और शोषण का विशाल क्षेत्र है। इसके बिना उनकी आय दर ऊंची रह ही नहीं सकती।

इसके अतिरिक्त अगर ४० लाख टन गल्ला बाजार से निकाल कर ४० प्रतिशत अनुत्पादक तबके में बांट दिया जाय, तो बाकी ६० प्रतिशत अनुत्पादक समूह को चोरबाजारी में अनाज खरीदने की प्रतियोगिता करनी होगी, जिससे गल्ले का दाम बढ़ ही जायगा। फिर ४० लाख टन अनाज का मूल्य अगर ५० प्रतिशत की दर से दिया जाय, तो बाकी ५० से ६० लाख टन, जो किसानों के पास बच जाता है उसे वह साधारण दाम से ५० प्रतिशत अधिक मूल्य पर बेचेंगे ही। अतः इस प्रकार की गल्ला वसूली से, जो हकीकत में गल्ला जप्ती है, दामों की वृद्धि होती है।

ऐसा करना निर्मम और अन्यायपूर्ण है। जब तक किसानों की आवश्यता की चीजें उन्हें उसी अनुपात में सस्ते दाम पर देने की व्यवस्था नहीं की जाती है, तब तक उनसे सस्ते दाम पर गल्ला लेने का कोई नैतिक अधिकार नहीं है। खेतिहर तथा औद्योगिक वस्तुओं के मूल्य में एक न्यायसंगत सन्तुलन कायम करना सर्वथा उचित है। अब तक इस तरह की कोई कार्रवाई नहीं होने के कारण किसानों के लिये अधिक गल्ला पैदा करने में कोई दिलचस्पी नहीं रह गई है। उत्पादन के नीचे गिरने के अनेक कारणों में, यह भी एक कारण रहा है।

जबरन गल्ला जप्ती के कारण किसानों को कितना नुकसान हुआ है, इसका ठीक ठीक अनुमान लगाना कठिन है, लेकिन मोटे तौर पर हर १० लाख टन पर २ करोड़ रुपये का घाटा किसानों को सहना पड़ा है। इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि किसान इस घाटे की पूर्ति खुले बाजार में गल्ला बेच कर कर लेता है। हां, यह घाटा अवश्य पूरा कर लिया जाता है, लेकिन किसानों के उसी तबके द्वारा नहीं। गल्ला वसूली की नीति ऐसी है कि इसका मुख्य बोझ गरीब तबके पर पड़ा है और जो

लाभ होता है वह धनी वर्ग की जेब में जाता है। मुझे आज भी राजस्थान के उस गरीब किसान की कहानी अच्छी तरह याद है, जिसके पास १० एकड़ जमीन थी और जिसे फी एकड़ २ मन के हिसाब से २० मन बाजरा ७ रुपये मन की दर से सरकारको देनेका हुक्म हुआ था। लेकिन उस गरीब के पास कुल ४ या ५ मन बाजरा था। बाजार में बाजरे की कीमत १४ रुपया मन थी। उस गरीब के पास पैसे नहीं थे। उसने अपने लड़के को एक सेठ के पास २०० रु० में नौकर के रूप में गिरवी रख कर बाजार में बाजरा खरीद कर सरकारी अफसरों के हुक्म की तामिल की। उसने फिर अनाज नहीं पैदा करने की कसम खाई। बहुत किसानों ने इसी प्रकार की कसमें ली है।

इस तरह की गल्ला-वसूली से स्वयं उसके उद्देश्य पर ही कुठार-घात होता है। इसके अलावा १५ से २० लाख गल्ले के व्यापारियों का धंधा इसके चलते मारा गया है। इस घाटे की पूर्ति वे हर सम्भव उपाय से करना चाहते हैं। या तो उनकी जीविका का प्रबन्ध किया जाना चाहिये या उन्हें अपना कारबार बन्द करने की आज्ञा सुना दी जानी चाहिये। गल्ला वसूली तभी सफल हो सकती है, जब कि गल्ले का उचित मूल्य दिया जाय, सभी प्रकार के गल्ले का व्यक्तिगत व्यापार बन्द कर दिया जाय तथा १६ औंस के हिसाब से हर बालिग अनुत्पादक तबके के लोगों को राशन देने की व्यवस्था की जाय।

अतः खेती की पैदावार के क्षेत्र में हमारा लक्ष्य होना चाहिये; १. औद्योगिक कच्चे मालों की आयात को कम करना २. गल्ले के आयात को बन्द करना ३. परिमाण और गुण दोनों दृष्टियों से खाद्य पदार्थों का उत्पादन बढ़ाना और ४. तीन करोड़ पचीस लाख टन गल्ले का स्टाक (छः महीनेकी खुराकके रूपमें) जमा रखना। मैं इस समस्या के हलके लिये निम्नलिखित सुझाव दिशा-निर्देशनके तौर पर, देना चाहता हूं।

किसानों की समस्याएं

उत्पादन के लिये—

१. ग्राम पंचायतों द्वारा साधारण सिंचाई की व्यवस्था करनी, २. स्वयसेव की आधार पर सरकार द्वारा प्रस्तुत योजना के मुताबिक छोटी छोटी सिंचाई योजना को पूरा करना ३ जटिल सिंचाई योजना को सरकार तथा जनता के पारस्परिक सहयोग द्वारा पूरा करना ४. बड़ी बड़ी योजनाओं को स्वतंत्र संगठनों द्वारा पूरा करना ५ सामान के रूप में आवश्यकता के मुताबिक कर्ज देना। ६. १० करोड़ एकड़ नई जमीन खेतिहर पलटन द्वारा खेती के अन्दर लाना और कुल ३५ करोड़ एकड़ जमीन को अधिक न्यायसंगत एवं आयोजित ढंग पर उपयोग में लाना ७. खाद तैयार करने के लिये सक्रिय आन्दोलन चलाना। ८. सभी प्रकार की बेदखली बन्द करना तथा उचित लगान निर्धारित करना ९. ग्राम पंचायतों को गैर आबाद जमीन को आबाद करने का अधिकार देना।

क्रयशक्ति पैदा करने के लिये—

१०. सहायक उद्योग ११. चावल मिलों की बढ़ती पर रोक और ढेकुल द्वारा चावल छाटने की पद्धति पर जोर १२. हर गांव में सूने महीनों में गरीबों को सस्ते दर पर कर्ज देने के लिये गल्ला बैंक की स्थापना।

बंटवारे के लिये—

१३. आवश्यक पदार्थों में सभी प्रकार के व्यक्तिगत व्यापार का अन्त १४. घाटा या बचत का लेखा—जोखा लगाने के लिये गांव को इकाई मानना १५. सभी अनुत्पादक वयस्क के लोगों को प्रति दिन १६ औंस के हिसाब से अनाज की व्यवस्था करना १६. गल्ले का भंडार बनाना १७. गांव की आवश्यकता की चीजों को कन्ट्रोल दर पर गांव की जनता को देने की व्यवस्था १८. संसार के विभिन्न केन्द्रों में गल्ला का स्टाक जमा रखना।

मूल्य के लिये—

१९. खेतिहर और औद्योगिक वस्तुओं के दामों में संतुलन रखते हुए सभी आवश्यक पदार्थों की कीमत कम करना २०. सरकार सभी बालिग श्रमजीवियों को, चाहे वह काम पर हों या बेकार, अन्न की गारंटी दे।

जनसंख्या की वृद्धि पर रोक—

२१ सन्तति निग्रह का पूरे जोर से प्रचार २२. देश के अन्दर आबादी का परिवर्त्तन।

भारत सरकार ऐसा साहस पूर्ण कदम नहीं उठा सकती। स्थिर स्वार्थ वर्ग के साथ सरकार के सूत्रधारों का जो गठबन्धन हो गया है उसके फलस्वरूप ये इनके वर्ग स्वार्थों के खिलाफ कोई कदम उठा भी कैसे सकते हैं ? फलतः इस गल्ला - वसूली के शिकार गांव के गरीब ही होने वाले हैं। इसलिये जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, दिल्ली-निर्णय व्यवहारिक रूप में भी सफल नहीं होगा। स्थिर स्वार्थ वर्ग की स्थिति काफी सुरक्षित है। मि० फजलुल हक को भी १९४३ में इनके हाथों से अपनी हार स्वीकार करनी पड़ी थी। हमारे माननीय मंत्रियों को शायद यह हार स्वीकार करने का साहस न हो, लेकिन अन्न समस्या तो उत्तरोत्तर गंभीर बनती ही जायगी। किसी वर्ष बिहार, हैदराबाद और मद्रास भयंकर अन्न संकट से गुजरेंगे तो किसी वर्ष अन्य राज्य। लगातार के घाटे का "परिमाण" अब "गुण" में परिवर्तित होकर देश को भयानक अकाल की ओर ले जा रहा है।

क्या जनता भूख से तड़प तड़प कर मरने के लिये तैयार है ? क्या इस अन्न संकट से बचने का कोई रास्ता शेष नहीं रह गया है ? हां, एक रास्ता है, जहां सरकार हार जाती है, वहां जनता आगे बढ़ कर जिम्मेदारी सम्भालती है। जनता के सामने एक ही रास्ता है और वह है क्रान्तिकारी नवनिर्माण का।

दूसरा

वनवासी

इतिहास की गति ने अनेक कबीलों एवं जन समुदायों को अपने ही तौर तरीके से रहने के लिये पीछे छोड़ दिया है। हजारों वर्ष पूर्व प्राचीन-समाज व्यवस्था को छिन्न भिन्न कर शहर और गांव की उत्पत्ति हुई। फिर भी अलंघ्य पर्वतों एवं बीहड़ वनों में कुछ टुकड़ियाँ जंगली पशुओं के साथ संघर्ष और प्रकृति के लय-ताल पर नृत्य करती रह गईं। वैज्ञानिक उन्नति के परिणाम-स्वरुप आवागमन के साधनों में प्रगति होने के कारण, ऐसे स्थान में उन लोगों की पहुँच आसानी से हो गई, जो जनसंख्या की वृद्धि के कारण, नये खेतों और चारागाहों की खोज में थे। श्रेष्ठ हथियारों तथा उन्नतर साधनों से लैस इन नवागन्तुओं के सामने, वे आदिवासी टिक न सके और उन्होने घनघोर जंगलों एवं गहन पर्वतों की शरण ली। नवीन व्यक्तिवादी समाज-व्यवस्था के अनुकूल अपने को बनाने में वे न समर्थ ही होसके और न जंगलों तथा पर्वतों में शिकार करना और नाच गान में लीन रहना ही छोड़ सके।

अठारहवीं शताब्दी में और खास तौर पर १९ वीं शताब्दी के

आरम्भ काल में यातायात के विकास से, जब इन वनवासियों के भी सम्पर्क में नवागन्तुकों को लाया, तब से नई दुनिया के सामने आदि वनवासी एक समस्या के रूप में रहे हैं। इस समस्या के हल का दृष्टिकोण अविवादी रहा है। एक ओर तो उनके सर्वथा विनाश की बात कही गई और दूसरी ओर मानव-विज्ञान के अध्ययन के लिये उन्हें अजायबघर के नमूने बना देने की सलाह दी गई। आज की दुनियाँ वनवासियों के साथ निर्जीव पदार्थ सा बर्ताव कर, अपने सर पर महान पाप ढो रही है। परन्तु इनके बड़े-बड़े दोस्त और सहायक भी कोई सही हल नहीं ढूंढ सके। चाहे उन्हें ईसाई बना लीजिये, चाहे उनकी समाज-व्यवस्था को तोड़ कर इस समाज में घसीट लाइये, उन मदमाहित जंगली कबीलों को इससे कोई भी सुख, संतोष नहीं मिलने को है। श्री बेरियर एलविन ने इस पर खेद प्रकट किया है कि किस तरह तथा कथित नयी संस्कृति उन्हें हेय बना रही है। उनका कहना है.......

"एक नया जंगली मुरिया या उरांव बालक जब पहले-पहल हमारे बीच आता है, तो कितना सुन्दर दीखता है, लम्बे-लम्बे घुंघराले लट, गले में चमकता हुआ कंठा और गुंथे बालों पर पंख एवं फूल। लेकिन स्कूल शिक्षक उनके बालों से फूल और पंख अलग कर देते हैं, उनके बिखरे अटों को काट डालते हैं और उनके आभूषणों पर फब्तियाँ कसते हैं। सुन्दर पगड़ी के बदले छोटी गोल टोपी सर पर विराजमान हो जाती है और उनके भूरे शरीर पर नैसर्गिक एवं शाश्वत नग्नसौन्दर्य पर आवरण डालने वाली खाकी कमीज और कोट विराजमान हो जाते हैं। नृत्य के स्थान पर जुआ, और सुन्दर तथा अकलुष "रेलों" के बदले होली की अश्लीलता आ जाती है।"

फिर भी इस देश में उनके अन्यतम मित्रों में से एक भी बेरियर एलविन भी कोई हल नहीं ढूंढ सके। आधुनिक आदिवासी के सबसे

सुन्दर उदाहरण के रूप में, उन्हें सारनगढ़ के गोंड राजा मिले। पर दुःख की बात तो यह है कि एक साधारण आदिवासी के लिये गोंड राजा होना संभव नहीं।

स्वर्गीय श्री ठक्करबापा जैसे सच्चे और कर्मठ-व्यक्ति भी उनके लिये समाज-सेवा की योजना का सुझाव देने के सिवा और कुछ नहीं कर सके। इसके अलावा उनको हिन्दू-धर्म के अन्दर रखने की भावुकता ने उनको मुख्य-प्रश्न से दूर रखा। इसी तरह ईसाई मिशनरियों की भावनायें भले ही अच्छी रही हों और उनकी अशान्त आत्माओं को कुछ हद तक शान्ति भी मिली हो, पर उनके कार्यों से आदिवासियों का दुःख दर्द बढ़ा ही है। इन सभी शुभचिन्तकों को वास्तविक हल इसलिये नहीं मिल सका कि वे व्यक्तिवादी समाज के दायरे में इसका हल ढूंढ़ते थे, जहाँ इसका कोई हल ही नहीं है। जबतक इस आधारभूत तथ्य का, कि वे आदिम समाज व्यवस्था के अवशिष्ट अंग हैं, ग्रहण नहीं किया जाता और उसपर अमल नहीं होता, तबतक कोई हल मिल नहीं सकता। दस हजार वर्षों से अपनी सामाजिक-व्यवस्था को व्यक्तिवादी समाज के आक्रमणों से बचाने के लिये वे संघर्ष करते आये हैं। न तो उन्नतिशील शहरों के प्रलोभन और न नवागन्तुकों की गोलियाँ ही उन्हें अपनी सामाजिक व्यवस्था से अलग कर सकी।

श्री वेरियर एल्विन ने आदिवासियों के जीवन के इस मुख्य तथ्य को मान्यता दी है। उनका कहना है—

"आर्थिक सहयोग की भावना और सामूहिक जीवन की परम्परा के विचार की दृष्टि से उनके प्राचीनतम गाँव आधुनिक दुनियाँ से सैकड़ों वर्ष आगे हैं। जंगली लोगों का यह सामूहिक जीवन देखने में बहुत ही सुन्दर है—जिसमें हरेक वस्तु के भागी सभी हैं और जिसमें एक का सुख-दुख समूह का सुख-दुख है। परन्तु आधुनिक शिक्षा और विकास की

शीत वायु का स्पर्श होते ही उनका यह सौन्दर्य समाप्त हो जाता है और उनके स्वाभाविक गुण; जैसे सरलता, ईमानदारी, स्पष्टवादिता और विनोद प्रियता आदि भी विनष्ट हो जाते हैं।"

फिर भी पलायनवाद और पूर्व निश्चित धारणा ने ही, श्री वेरियर एलविन को इस तर्कसंगत हल तक पहुँचने से रोका है कि आदिवासियों को प्राचीन समाजवादी व्यवस्था से ऊपर उठा कर आधुनिक समाजवादी व्यवस्था में लाया जाय। वही पूर्व निश्चित धारणा और पलायनवाद की भावना बनवासियों के अन्य शुभचिंतकों को इस तर्कसंगत मानवीय और स्वाभाविक हल तक पहुँचने से भयभीत कर रही है। यदि इसको स्वीकार नहीं किया गया, तो ये बनवासी आस्ट्रेलिया के "बुशमैन" की भाँति समूल नष्ट हो जायेंगे या उत्तरी अमेरिका के "रेड इण्डियन्स" की भाँति अजायब घर के नमूने के तौर पर रहेंगे या इस देश के संथाल, भील और मुँडा लोगों की भाँति समाज में सबसे पिछड़े रहेंगे।

पिछले तीन सौ वर्षों से इनकी हालत इस देश में बराबर बिगड़ती ही जा रही है। इनका जीवन सुख-दुख का एक अजीब मिश्रण है। श्री एलविन के शब्दों में—

"वर्ष भर त्योहारों, विवाह और नृत्यपर्यटनों से जीवन उत्फुल्ल रहता है। लड़के और लड़कियाँ एक ओर बालों में फूल और आभूषण लगाकर खुशीसे नाचके लिए इकट्ठे होती हैं और दूसरी ओर उनके बुजुर्ग देवी-देवताओं की आराधना में लग जाते हैं। विवाह-समारोह तो एक प्रकार से मनमोज की तरह ही आनन्ददायक होते हैं। अतिथियों के लिये एक खुला घर रहता है, जहाँ सैकड़ों लोग भोज और नाच में सम्मिलित होने के लिये जंगलों में इकट्ठे होते हैं। यह आश्चर्य की बात है कि इतने कम खर्च में इतने अधिक आनन्द और उत्साह की प्राप्ति होती है। कभी कभी अविवाहित युवक एक जगह से दूसरी प्रेयसी की खोज में नृत्य

पर्यटन करते हैं। कमी कमी लड़कियाँ भी प्रियतम की खोज में इसी तरह निकलती हैं।"

"फिर भी यह आनन्द कष्टों और अभाव के कारण नष्टप्राय होता जा रहा है। आदिवासियों को प्रकृति और बीमारी से निरन्तर संघर्ष करना पड़ता है, हरएक रात मच्छड़ मृत्यु से भी भयानक यन्त्रणा लिये आते हैं। सदियों से गांवों में रात को घनघोर अन्धेरा छाया रहता है, क्योंकि उनमें दीपों के लिये तेल खरीदने का सामर्थ्य नहीं है। उनके लिये सर्वदा 'राशनिंग' की ही स्थिति रहती है, क्योंकि हरएक को खाद्यान्न का अभाव रहता है। उनकी आबादी पर बाहरी कानूनों द्वारा प्रतिबन्ध लगा रहता है। कुछ ही क्षण में आसमान की हरकत फसल को नष्ट कर दे सकती है और महीनों के काम को मिट्टी में मिला दे सकती है। दुर्घटना या बीमारी से जीवन का अन्त असमय ही हो जाता है। यद्यपि इस विनाश में युद्ध से कम विभीषिका रहती है, किन्तु अनिश्चितता तो उतनी ही रहती है।"

आखिर उन्हें समाजवाद के लक्ष्य तक पहुँचना ही है। फिर इसकी क्या आवश्यकता है कि उनकी सामाजिक व्यवस्था को तोड़ कर व्यक्तिवादी समाज की स्थापना की जाय और तब उन्हें समाजवाद के पथ पर लाया जाय? सोवियत रूस उत्तरी क्यूराईल द्वीप के आदिवासियों को प्राचीन समाजवाद से आधुनिक समाजवाद के पथ पर लाने का जो प्रयोग कर रहा है, वह विशेष ध्यान और अध्ययन के योग्य है।

पिछले दो सौ वर्षों से आदिवासियों के प्रति इस देश में विभिन्न सरकारों का व्यवहार हृदयहीन और उत्पीड़क रहा है। इस बात का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है कि उनके जीवन का जंगलों से बहुत ही घनिष्ठ सम्पर्क है। इसलिये जंगलों से सम्बन्ध रखनेवाली नीति आदिवासी-नीति के अनुरूप ही होनी चाहिये। इस दूसरी बुनियादी तथ्य को

शासकों ने कभी भी स्वीकार नहीं किया। वास्तविकता तो यह है कि इन मानव-आत्माओं की रक्षा की अपेक्षा जंगलों की सुरक्षा की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। राजनीतिक दृष्टि से अंगरेजी सरकार उनको अलग क्षेत्रों में बनाये रखने से अधिक सोच भी नहीं सकी। उन पहाड़ी जातियों के जीवन और उनकी सभ्यता को संक्रामक समझ कर बाहरी दुनिया से उनका कानूनी अलगाव रखा। विशेष रूप से उन्हें सुरक्षित रखने की इस नीति ने उन्हें राष्ट्रिय आन्दोलन से भी अलग कर दिया।

स्वभावतः ही इस नीति का राष्ट्रिय-नेताओं ने विरोध किया। श्री चर्चिल के इस अभद्र कथन का, कि "समूचे हिन्दुस्तान को यदि पृथक क्षेत्र बना कर रखा जाय तो मुझे कोई आपत्ति नहीं" सारे देश ने एक स्वर से विरोध किया। फिर भी संकीर्ण-विचारों से प्रभावित अंग्रेजी सरकार के लिये आदिवासियों के विशेष अधिकारों को सुरक्षित रखने के सिवा कोई चारा नहीं था। बाहरी लोग जायज या नाजायज तरीकों से आदिवासी क्षेत्रों में घुस कर उन्हें जमीन और जंगल से बेदखल कर रहे थे। काश्तकारी कानूनों के जरिये बाहरी लोगों पर, जमीन सम्बन्धी प्रतिबन्ध लगा कर और दूसरे सुरक्षात्मक कानूनों के द्वारा, बाहर के लोभी महाजनों से कुछ दूरतक उनकी रक्षा हुई।

फिर भी यह न तो कोई हल था और न कारगर सुरक्षा ही। उसने एक हाथ से जो कुछ दिया दूसरे हाथ से जंगल-सुरक्षा-कानून के द्वारा लेलिया और वनवासियों के सुख का अंत सदा के लिये होगया। थोड़े से उन लोगों को छोड़ कर जो "झूम" खेती करने के आदि हैं, सभी, जंगल-सुरक्षा-कानूनों का स्वागत करते यदि उसकी बुनियाद ठोस सिद्धान्त पर आश्रित और मानवीय विचारों से प्रेरित होती। एक ओर आदिवासी अपने अधिकार खोते गये और दूसरी ओर ठेकेदार और कारखानेदार मजा उड़ा करते गये, एवं करोड़ों रुपये उन की

विद्योरियों में समाते गये ।

आजादी के प्रभाव ने वनवासियों की झोपड़ियों में प्रकाश लाने के बदले उनके कष्टों और मुसीबतों को और भी बढ़ा दिया । माननीय श्री कृष्णवल्लभ सहाय उनके वास्तविक और कानूनी अधिकारों को, क्षतिपूर्ति किये बिना ही, छीन कर विदेशी शासकों से भी एक कदम आगे बढ़ गये हैं । इस सम्बन्ध में कुछ और कहने के पहले हम विभिन्न प्रान्तों के आदिवासियों और जंगलों का एक पूरा चित्र अपने सामने रक्खें ।

निम्नलिखित आंकड़े विभिन्न प्रान्तों में १९४१ की जनगणना के अनुसार आदिवासियों की जनसंख्या दिखाते हैं ।

क्रम संख्या	राज्य	आदिवासियों की जनसंख्या हजार में	कुलजनसंख्या प्रतिशत
१	बम्बई	२२,७०	७
२	मध्य प्रदेश	३७,१०	२०
३	मद्रास	५,६०	१०
४	मैसूर	१०	
५	ट्रावणकोर	१,६०	२
६	हैदराबाद	६,८०	४
७	भोपाल	७१	९
८	आसाम	२८,२५	२२
९	बंगाल	१६,२५	३
१०	बिहार	६१,९५	१६
११	उड़ीसा	३२,११	२४
१२	उत्तर प्रदेश	२,९८	२४

जंगलों का क्षेत्र — वर्गमील में

	क्षेत्र-पूरा	जंगल क्षेत्र	जंगल के प्रतिशत
अजमेर	२,३६७	५९३	२५,१
अन्डमन	२,५००	२,५००	१००,०
आसाम	५५,४४५	२१,६३७	३९,०
बिहार	६९,७४५	९,९४७	१४,०
बम्बई	७६ ०२६	१२,८७२	१६,९
मध्यप्रदेश	९८,५७३	४७,०५७	४७,७
पंजाब	३८,७८०	४,७६१	१२,३
मद्रास	१,२५,१६३	३३,६६६	२६,९
उड़ीसा	३२,६९५	४,४१२	१३,७
उत्तरप्रदेश	१,०६,२४८	१७,३७२	१६,४
पश्चिम बंगाल	२८,२१५	४,२८४	१५,२
कुर्ग	१,५८२	१,१७५	७४,२

एक सरसरी नजर डालने से ही स्पष्ट हो जायगा कि आदिवासियों का जीवन जंगल से कितना जुड़ा हुआ है और कितनी बड़ी सम्पत्ति उनके पास है। इस देश में तीन करोड़ आदिवासियों का जीवन जंगलों की पैदावार से सुखी और सम्पन्न बनाया जा सकता है। राष्ट्रीय हित के लिये सुरक्षा की नीति आसानी से वनवासियों को संतुष्ट रखते हुए निर्धारित की जा सकती है। जंगलों की सुरक्षा और वनवासियों के कल्याण के बीच द्वन्द नहीं, वरन् वास्तव में ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। कांग्रेसी मन्त्रियों की असमयवती नीति ने ही इस द्वन्द का सृजन किया है।

लकड़ी जंगलके धनका एक छोटा सा अंग है। देशों की हिफाजत के साथ, वनवासियों के हित में जंगली पैदावारों के वैज्ञानिक उपयोग,

उनकी आर्थिक कठिनाइयों को आसानी से अंत कर सकते हैं। अगर हम १८७८ के पहले जंगल कानून को देखेंगे, जो अब भी कांग्रेसी मंत्रियों का प्रवतारा है, तो पता चलेगा कि बनवासियों के लिये कुछ भी नहीं छोड़ा गया है। जंगली पैदावार की परिभाषा, कानून की दूसरी धारा में, इस प्रकार है :—

"धारा २, अनुच्छेद ४—जंगल की पैदावार के अन्तर्गत लकड़ी कोयला, कांचू, रैंचू लकड़ी के तेल, रासन, प्राकृतिक वार्निश, छाल, लाह, महुआ के फूल और बीज, मीराकलास पेड़ पत्ते, "फूल फल', आदि है, तथा ऐसे भी पौधे, जिन्हें वृक्ष नहीं कहा जा सकता जैसे घास, लत्ती, काई आदि। तथा इन पौधोंके अन्य भाग तथा जंगली जानवर, चमड़े, हाथी दांत, सींघ, हड्डियाँ रेशम, चर्बी, मधु आदि; पत्थर, खनिज पदार्थ, चूने के पत्थर, तेल और खानों की दूसरी पैदावार भी इसमें आते हैं।"

मतलब यह कि खनिज पदार्थ और पेड़ों से लेकर गोबर तक सुरक्षा के दायरे में आजाते हैं। उनकी तकलीफों, दुर्गति तथा पतन के लिये कांग्रेसी मन्त्रियों की यही आत्मघाती नीति, जो बदला लेनेकी भावना से प्रेरित होकर लागू की गई है, उत्तरदायी है। परम्परा तथा नैतिकता के दृष्टिकोण से जंगल और जंगलों की पैदवार के मालिक बनवासी ही है। जब तक इस दूसरे बुनियादी तथ्य को मान कर इसके ही आधार पर नीतियों का निर्धारण नहीं किया जायगा तब तक न तो जंगलों की रक्षा होगी और न बनवासियों की प्रगति।

कांग्रेसी मन्त्रियों ने जहां एक ओर जंगलों और उनकी पैदावारों पर से बनवासियों के अधिकार छीन लिये हैं, वहाँ दूसरी ओर उत्पादन और व्यापार के अधिकार पूंजीपति ठेकेदारों दे दिये हैं। क्या कारण है कि कांग्रेसी सरकारों ने सहयोग समितियों का निर्माण कर जंगली पैदावारों का उत्पादन और व्यपार के अधिकार इनके या आदिवासियों के हवाले नहीं किया? स्मरण रहे कि उसके लिये बहुत कम पूंजी की आवश्यकता है। कुछ

योग्य व्यवस्थापकों की सहायता से कांग्रेसी सरकारें वनवासियों के करोड़ों का लाभ करा सकती थीं।

वनवासियों के शुभचिन्तकों को इस तीसरी बुनियादी तथ्य को समझना अत्यावश्यक है कि वे कुछ बातों में समाज के अन्य अंगों से आगे ही नहीं बल्कि श्रेष्ठतर हैं। उनकी समूह भावना और नृत्य एवं संगीत प्रेम एक ऐसी उपयोगी वस्तु है जिसकी रक्षा तथा जिसे विकसित करना आवश्यक है। रांची के जूलियस टिग्गा आदिवासी लड़के तथा लड़कियों को उनकी प्राचीन संस्था "धुमकुड़िया" के आधार पर शिक्षा देने का प्रयोग कर रहे हैं। उनमें परिमार्जन एवं प्रगति लाने की आवश्यकता है। किन्तु यह एक राष्ट्रिय दुर्भाग्य होगा, यदि उन्हें उन चीज़ों को परित्याग करने को बाध्य किया गया जिनकी रक्षा उन्होंने हज़ारों वर्षों के लम्बे संघर्ष के दरम्यान की है।

जब एक बार इन तीन बुनियादि तथ्यों को, कि (क) वे प्राचीनतम समाजवादी समाज के अवशिष्ट हैं और उन्हें सीधे समाजवाद के पथ पर लाया जा सकता है, (ख) जंगल और उसकी पैदावार पर उनका परम्परागत तथा नैतिक अधिकार है और (ग) कुछ बातों में वे हमारे व्यक्तिवादी समाज से श्रेष्ठ हैं; स्वीकार कर लिया जाता है, तो उन्हें इच्छित लक्ष्य तक द्रुत गति से ले जाने में कोई, कठिनाई नहीं होगी, और पहाड़ियाँ तथा जंगल ऐसे समाजिक क्षेत्र बन जायंगे जहां प्राचीन समाजवादी व्यवस्था के साथ आधुनिक औजारों का सम्मिश्रन होगा। प्रकृति ने इन आदिवासियों को मुक्त हस्त हो धन और सौन्दर्य दिये हैं। लेकिन संकीर्ण विचार एवं स्वार्थ भावनाओं से रत मानवों ने इन अपूर्व स्वर्गों को नरक तुल्य बना दिया है। इस देश के तीन करोड़ वनवासियों के जीवन में आनन्द एवं सुख लाने के लिये आधुनिक समाजवाद के आधार पर चक्र को फिर से घुमाया जा सकता है।

बरार; साहुकारों का स्वर्ग

बरार भारत का केन्द्र-स्थल है। विगत शताब्दियों के इतिहास के सिंहावलोकन से स्पष्ट हो जाता है कि बरार सदा से दुस्साहस, षडयंत्र और संघर्ष का केन्द्र रहा है। उसने साढ़े तीन सौ वर्षों की लम्बी जिन्दगी में शान्ति की छाया तक नहीं देखी। दक्षिणी-सामन्त १६ वीं शताब्दीमें बरार पर अधिकार के लिये परस्पर युद्ध में जूझते रहे जबतक सम्पूर्ण बरार बादशाह अकबर के चरणों में १५९६ में समर्पित न कर दिया गया। सत्रहवीं शताब्दी में मुग़ल शासकों की बारी आई, परन्तु मुग़ल सल्तनत के ढहते ही निज़ाम ने बरार पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। मराठों ने भी उस पर "चौथ और सरदेशमुखी" का दावा किया। दोनों ने अपने अपने जागीरदार बहाल किये। दोनों ओर से राज कर का दावा किया गया, दबरिया कर-वसूली प्रारम्भ हो गई। परिणाम स्वरूप किसान तंग हो खेतों को छोड़ पड़ोसियों के लूट-खसोट में लग गये।

यह दुर्दशा १८०३ ई० तक होती रही और तब तक बृटिश हुकूमत ने पूरे बरार को निज़ाम के ज़िम्मे लगा दिया। किन्तु हैदराबाद दरबार के

मनमाने खर्च ने निजाम को कर्ज से बोझिल कर दिया और कर्ज चुकाने की विधि यह रही कि बरार के अधिकांश जिले कर्जदारों को खेती के लिये सुपुर्द किये जाने लगे। इस तरह बरार अनेक लोभियों का केन्द्र बिन्दु बन गया। हैदराबाद के मशहूर सूदखोर पूरनमल तथा पारसी-कम्पनी पेस्तनजी ऐन्ड को० निजाम के नाम पर बहुत दिनों तक बरार के अधिपति बने रहे उन कर्जदारों को खेती से क्या वास्ता? उन्हें तो धन चाहिये था। धन लूटने की प्रतियोगिता पूरे बरार में चलती रही। जब चकला का चकला खेत परती रहने लगा, तब देशमुखों ने भागे हुए खेतिहरों को शासन के बल वापस लाने की कोशिश की। १८३५ में बार बार गांव खाली हो गये, अधिकांश खेत परती पड़गये। १८६७ में केवल वणी जिले में ही ४३६ गांव वीरान हो चुके थे और २० लाख एकड़ जमीन परती रह गई थी। १८६७ में "परती भूमि कानून" के आधार पर "इजारा कानून" बना और जमीन को पुन: आबाद करनेवालों को विशेष सहूलियतें दी जाने लगीं।

भारतीय काश्तकारी पद्धति के विख्यात लेखक श्री बेडेन पावेल ने अपनी पुस्तक में लिखा है—

"जब से बरार दो मालिकों के (निजाम और मराठे) के बीच आया तब से सभी स्थायी हक खतम कर दिये गये, या यों कहिये कि बरार की जनता की कमर टूट गई। फिर मराठों का आधिपत्य स्थापित हुआ और उन्होंने मालगुजारी देनेवालों का तो ख्याल किया, किन्तु भगवान्‌ जमीनें ज्यों की त्यों पड़ी रह गई। लम्बी लड़ाइयों के बीच दोनों सरकारें निर्धन बन गई और वे ज्यादा से ज्यादा मालगुजारी वसूलने में जुट पड़ीं। १८०३ में एक ही सरकार बच रही। पुराने झगड़ों का तो अन्त हो गया, किन्तु नई-नई समस्याएँ उठ खड़ी हुई। देश थक गया था और जनसंख्या घट गई थी। कुछदिन बादही एक भयानक अकाल पड़ा। पचास वर्ष बाद, जब हमने प्रान्त को अपने हाथ में लिया, तो कर वसूली की जिम्मेदारी उन किसान

मुखियाको दे दी गई, जिन्होंने नन्द रुपये दिये थे। सालाना बन्दोबस्ती तो की गई, परन्तु पहले से ज्यादा चढी हुई मालगुजारी के दरपर। जिस किसान ने अपने खेतों को सुन्दर बनाया और अच्छी फसल उगाई उन्हें इसे सबसे बड़े इनामदार के यहा बेचना पडा। सम्पूर्ण तालुका और परगना व्यवसाइयों के हाथ नकद रुपये में बन्दोबस्त कर दिये गये। ऐसी आर्थिक हालत में भूमि की पूरी उपज कर में ही भुगतान होनी होगी।"

इस व्यवस्था का अन्त १८५३ में हुआ, जबकि अंग्रेजों के हाथ में शासनसूत्र आया, परन्तु निजाम का कानूनी आधिपत्य गत ५ वर्ष पहले तक कायम था। इतिहासज्ञ ने तीन शताब्दी,के इस काल को "दो अमली" कहा है। इस काल में बरार की जनता दो विरोधी राज शक्तियों की चक्की में पिसकर बिल्कुल बर्बाद हो गई। अंग्रेजा का कहना है कि उन्हाने बरार को निजाम से चूसी हुई नारगी की हालत मे पाया। किन्तु, क्या उन्हाने बरारकी हालत में थोडा भी सुधार किया। १९ वीं शताब्दी के आखिर म, बहुत से ऐसे व्यक्ति थे, जो पहले के डवाडोल और कुव्यवस्थित शासन को ही पसन्द करते थे। अंग्रेजी-राज में इस स्थिति म बहुत कुछ सुधार हुआ। तलवार की जगह, स्टाम्पदार कागजा और कचहरियों ने ली। एक शताब्दी के अंग्रेजी राज म ही सारा बरार साहूकारों का स्वर्ग बन गया।

बरार गजेटियर ने १९१० म लिखा —

"मारवाडी जो रूई तथा गल्ले क रोजगार म धनी बनकर प्रधानत. सूद पर रुपये ल या करते है, गाव गाव मे भरे पड़े हैं। पिछले पचास वर्षों में इन, क्रूर सूदखोरों ने पूरी रैयतवारी प्रथा को तोड़-मरोड कर आधे बरार को हजम कर लिया।" असहाय जनता के जीवन म छल प्रपञ्च की यह दर्दभरी पाशविक कहानी सरकारी गजेटियर से ही साफ हो जाती है।

एक अनुभवी अधिकारी ने कहा है कि गल्ले के व्यापारियोंने अकाल उत्पन्न करने के लिए वर्षा बन्द कराने का एक विचित्र उपाय ढूढ निकाला

था। "प्रसव-पीडासे मृत किसी स्त्री की हड्डी से एक चर्खा बनाया गया और उसको एक बूढ़ी विधवा के द्वारा एक सूखे सोते के किनारे सूर्य के सन्मुख चलवाया गया।"

बृटिश सल्तनत ने बरार को ऐसे ही हृदयहीन सूदखोरों के सुपुर्द किया। बरार की भूमि नदियों की लाई हुई अत्यधिक उपजाऊ मिट्टी से बनी है। इसका क्षेत्रफल १७७८० वर्गमील है और इसकी आबादी ३ करोड़ है। इतनी बड़ी भूमि और इतनी विशाल आबादी निर्दयी साहूकारों के चरणों में लोट रही है। इसकी गरीबी का कारण न तो इसकी मिट्टी है, न इसकी आबादी (जो केवल १८० प्रति मील है) और न इसकी वर्षा, जो ३५.२० इंच औसत है। भूमि का वर्गीकरण भी, जो नीचे दिया गया है, वस्तुतः गरीबी का कारण नहीं बन सकता है।

(३१ वीं मई, १९४९ को खत्म होनेवाले वर्ष में आबाद भूमि के वर्गीकरण का ब्यौरा एकड़ में :—

	जिला व जोत में कुल रकबा		कर लगने-वाली जोतने लायक परती
	फसल के अन्दर	बेफसल	
१. अकोला	१८०२०२	४०११४६	७२७५
२. अमरावती	१५४४४३४	३०१८१७	२४७५०
३. बुलढाना	१५४५७८०	४०७०२३	६५५१
४. यावतमाल	१७००४७२	६२२६७३	३३१२
	६५१८८८८	१७४५१५९	४११६८

लकड़ी, जलावन और घास वाली जमीन	जंगल के अलावा गांव के चारागाह और अन्य जमीन	सर्वे के बाहर बची जमीन	गैर आबाद जमीन	कुल जोड़
१३९५६९	१९२५४४	५३०८१	१४०७४	२६०७६८३
८०३५३३	२४७३०७	५९६७७	२४३०५	३०१३७२३
१७३१२५	२१४०४६	४४१९९	२३९००	२४१४६२४
४९५१६७	३१९९६०	५७७४५	१३०६३९	३३४०७५३
१६१११३९४	९७३५४७	२१४७०२	१९२९८१	११३७८५८३

काश्तकारी कानून के अनुसार क्षेत्रफल का विभाजन

	योगफल	क्षेत्र
खालसा	९१,७३,९५३	७३,६२,८९१
जंगल	१०,२५,५६२	३४८
इजारा	७,५१,३९१	६,५१,८०२
इनाम	४२,८०३	६,६२०
जागीर	३,६१,७५६	२,७३,४२८
पालमपेट	२१,०८५	१९,४१७
	१,१३,७६,५५१	८३,१४,५६६

खालसा में वह जमीन आती है, जो रैयतवारी प्रथा के अनुसार स्थायी रैयतों के हाथ बन्दोबस्त कर दी गई हैं। १८६७ और १८९७ के दो सर्वे में ९५ प्रतिशत जमीन जोतने वाले किसानों के पास थी। उसके बाद से ही साहूकारों के हाथ जमीन चली जा रही है। बंधक और

विक्री की तालिका गत ५० वर्षों में होनेवाली बेदखली का सही चित्र प्रदर्शित करती है।

विक्री

	संख्या	एकड़	दाम
१९४५—४६	४१,२०६	२,०५,६९४	२,९४,१८,६८१
१९४६—४७	३३,२८१	१,६३,२५०	२,७५,६९,६९०

बंधक

	संख्या	कीमत
१९४४	७,९५६	२५,४४,७६२
१९४५	१३,३२,५९	४६,९४,६६९
१९४६	१४,४७३	५५,४१,६७७

इस तरह की बेदखली, मराठवाड़ाके सिवा, देशके किसी अन्य हिस्से में नहीं पायी जाती है। इस केन्द्रीकरण का इलाज सरकार ही निकाल सकती है। निजाम सरकार ने १९३८ में एक कमीशन बहाल किया जिसने पडोस के मराठवाडे में पता लगाया कि औसत २ प्रतिशत जमीन प्रतिवर्ष किसानों के हाथ से निकलती चली जा रही है। कमीशन के विवरण के आँकड़े ये हैं—

औरंगाबाद, परभनी, नानडेर, बीर जिलों के आँकड़े —

१. बोई गया कुल जमीन ७९,४२,००० एकड़
२ बेची गई कुल जमीन १९२३,१९२७ २२,५०,००० "
३ कुल गाँव ४,८५५ "
४. १९३७ में कुल कर्ज १५ करोड रुपये।

ये आँकड़े साफ बताते हैं कि किसानों के हाथ से २ प्रतिशत प्रतिवर्ष के हिसाब से जमीन निकलती रही। चूंकि १९३१–३७ के वर्षों में मन्दी रही, इसलिये बेदखली भी जोरों में हुई।

जमीन की ऐसी बेदखली आजादी के बाद भी जारी है। सरकारी जाँच पड़ताल के विना यह कहना कठिन है कि कितनी रैयनी जमीन साहूकारों या गैरजोतदारों के पास है। मैंने यावतमाल के निकट एक छोटी बस्ती चिमनपुर में देखा कि कुल भूमि-कर २४९ रु० १ आ० में २०६ रु० १५ आ० ६ पा० बाहर के गैरजोतदार द्वारा चुकाये जाते थे और उनकी कुल जमीन स्थानीय रैयत बटाई पर जोता करते हैं।

मेरे अनुमान से मोटे तौर पर ५० प्रतिशत जमीन गैरजोतदार रैयतों के जिम्मे होगी। मध्यप्रदेश की एसेम्बली में प्रश्न पूछे जाने पर एक मंत्री ने बरार के सम्बन्ध में ये आंकड़े दिये:—

श्रेणी	संख्या	कुल मालगुजारी रु० में
१. १० रु०से कम मालगुजारी देनेवाले	२,६७,८०१	२६,७८,०१०
२. १० रु० से अधिक और २५ रु० से कम देनेवाले	७६,५१२	१८,६२,८००
३. २५ रु० से अधिक और ५० रु० से कम देनेवाले	३५,४६६	१७,७३,३००
४. ५० से अधिक और १०० से— कम देनेवाले	१३,३९९	१३,३९,९००
५. १०० ,, ,, २०० ,, ,,	५,१२७	१०,२५,४००
६. २०० ,, ,, ५०० ,, ,,	१'२५५	६,२७,५००
७. ५०० ,, ,, २००० ,, ,,	४८१	९,६२,०००
८. २००० ,, ,, ३००० ,, ,,	१०२	३,०६,०००
९. ३००० ,, ,, ५००० ,, ,,	४०	२,००,०००
१०. ५००० ,, ,, १०००० ,, ,,	२७	२,७०,०००
११. १४०००,, ,, २५००० ,, ,,	३	४२,०००
१२. २५००० रु०......	१	२५,०००
	३,९८,२१४	१,११,१३,९१०

हम शोषण की मात्रा का केवल कुछ अन्दाजा लगा सकते हैं। वर्तमान बाजार-मूल्य के आधार पर हमलोग ऐसा कह सकते हैं कि औसत प्रति एकड ६०) की फसल तैयार होती है। चूंकि अभी करीब ६६ लाख एकड भूमि में उत्पादन होता है, बरार की फसल का कुल मूल्य ४० करोड रुपए के लगभग होगा। मध्यप्रदेश के भूमि-आंकडा विभाग के डाइरेक्टर द्वारा प्रकाशित आंकडो से भी उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि होती है। यदि हमारा यह अन्दाज, तथ्य के निकट है कि ५० प्रतिशत भूमि बटाईदारों के द्वारा जोती जाती है, तो करीब १० करोड रुपये के हिस्सेदार वैसे लोग होते हैं, जो खेत पर काम किये बिना ही उसके मालिक हैं। यह एक प्रकार का चौथ होता है, जो प्रतिवर्ष साहूकारों द्वारा अभी वसूल किया जाता है। बरार की भूमि से कुल मालगुजारी जो सरकार को मिलती है, करीब एक करोड के बराबर है। साहूकारों को इससे कहीं अधिक मिलता है। बरार में "दो अमली" की प्रथा अभी भी चालू है।

रुपये लगाने के अलावे एक और कारण है जिससे सहूकारों का दबदबा कायम रहता है। वे रूई का व्यापार भी करते है। प्रत्येक साहूकार की, भूमिपति, महाजन और रूई व्यापारी की, तीनों हैसियत साथ साथ रहती हैं। बरार के लिये कपास, जहाँ एक ओर वरदान है, वहाँ दूसरी ओर अभिशाप भी है। कपास उत्पादन के लिये काली मिट्टी, बहुत ही उपयुक्त है। अमरीकी गृह युद्ध के समय तथा उसके बाद ब्रिटेन में कपास की पूर्ति रूक जाने के कारण ब्रिटिश-उत्पादकों को नये बाजार की तलाश में अपने एजेंटों को बरार भेजना पडा। सन् १८६७ म जी० आई० पी० रेलवे कम्पनी ने बम्बई और बरार के बीच लाईन बिछा दी और महसूल में कमी करके कपास के यातायात को सुविधा-जनक बना दिया। फलस्वरूप बम्बई के द्रव्य-व्यापार से बरार के क्षेत्रों में रुपए की बाढ़ आगयी और १९ वीं शताब्दी के अन्तिम २५ वर्षों में बरार ने अपने को रब्बी क्षेत्र से खरीफ क्षेत्र में बदल डाला।

नीचे के आँकड़ों से यह पता चलता है कि एक जिला में किस प्रकार यह परिवर्तन हुआ।

यवतमाल जिला में : एकड़ में

वर्ष	खरीफ कपास के साथ	कपास
१८९१– ९२	१०,७०,२२५	४,०८,४३४
१८९५– ९६	११,७५,३७४	३,५०,१९८
१८९९–१९००	१०,३९,४४२	३,२३,८१५
१९०५–१९०६	१८,०१,७५३	७,१२,६६०
१९१५– १६	१६,००,४७८	७,०१,८६७
१९२०– २१	१६,५३,४११	७,१७,४३०
१९२५– २६	१७,१४,१७४	८,०३,४९२
१९३०– ३१	१७,४०,६८७	८,५२,२८१
१९३५– ३६		
१९४१– ४२	१५,६९,२८८	६,४२,५६३
१९४५– ४६		५,८५,६३५

रब्बी	प्रति रू० कपास का मूल्य सेर में	चेन
३,०१,४१०	२०	३,६५७
३,२२,५११	२०	३,४४२
३२,८७०	३१.१	२,७२३
१,९९,६९६	२.२	९,३२४
१,२९,३२८	२.४	१०,५११
४१,६९८		२,८२८
८०,१५७		२,८५७
७१,५०१		२,२०९
१,२४,५५३		
१,४१,७२७		४,०९६
		४,२२८

४. चमड़ा	२५०	४. मैनुफैक्चरिंग लोहा	४००
५. विविध	१७५०	५. धातु	१६००
	२७,१००	६. चीनी	१६००
		७. मसाले	७००
		८. किरासन तेल	४००
		९. नमक	४००
		१०. सुपारी	५००
		११. नारियल	४००
		१२. अन्य	५१००
			१,४८,००

इस प्रकार आयात की अपेक्षा १३० लाख के निर्यात की औसत अधिकता हुई है। आर्थिक प्रश्न अत्यधिक उलझे हैं, लेकिन यह समव है कि जिला के शोषण के लिए विदेशियों द्वारा नफा के रूप में प्राप्त धन को यह निर्यात का बड़ा हिस्सा स्पष्ट करे।

ऊपर दिये आंकड़ों को देखकर पता लगता है कि उनमें ३० लाख से अधिक रुपये की मशीन मगायी गयी है। ये कपास-व्यापारी धीरे-धीरे महाजन बने फिर काफी जमीन के मालिक हो गये और अन्तमें कारखाने के मालिक हुए। इस वर्ग में चार पेशे के लोग हैं—महाजन, व्यापारी, मालगुजारी पर जमीन देनेवाले और उद्योगधधेवाले। इससे इनका प्रभाव सर्वव्यापी है। इनकी आमदनी की औसत तो ठीक नहीं बतायी जा सकती पर अन्दाजन यह २० करोड के नीचे कभी नहीं होगी। इसका केवल अनुमान किया जा सकता है।

१. कृषि और खेत की आमदनी	१० करोड रुपये
२. रूई का व्यापार	५ „ „

३. सूद पर रुपये लगाना	३ ,, ,,
४. कारखाने तथा अन्य उद्योग	२ ,, ,,
	कुल—२० करोड रुपये

महाजनी, जमीन्दारी और व्यापारमें एक साथ लगे इस वर्ग की और पूँजीपति की आय तो इस प्रकार है, और इसके विपरीत खेतिहर वर्ग की कुल आमदनी ३० करोड रुपये हैं, जबकि वे कुल आबादी का ७५ प्रतिशत हैं। १९३२ की मदी इतनी भयकर थी कि उस समय की सरकार को भी कर्ज सम्बन्धी कानून बनाने के लिये बाध्य होना पडा।

निम्न लिखित कानून इन ५ वर्षों में पास हुए।

१. १९३३ का मध्य प्रदेशीय ऋण सबधी कानून
२. १९३४ के चक्रवृद्धि ऋण विधान सशोधन
३. १९३६ का मध्य प्रदेशीय महाजनी कानून
४. १९३६ का मध्य प्रदेशीय औद्योगिक मजदूरी कानून
५. १९३७ का मध्य प्रदेशीय कर्जदार सरक्षण कानून

ये सभी वास्तविक लाभ देने म असफल रहे, क्योंकि ये जमाबन्दी की सुरक्षा की बुनियादी समस्या का स्पर्श,भी नहीं कर सके। १८९६ में बरार भूमिकर कोड के निर्माण के साथ ही पहली गलती शुरू हुई। दर रैयतों के अधिकारों की रक्षा के लिये बहुत थोडी कोशिश हुई। इस कार्य के लिये १८६६ में दर रैयती नियम बनाये गये। पर वह आरम्भ से ही व्यर्थ रहा। १८५५ और १८६५ के बीच बरार में जमींदारी और रैयतवारी की पद्धति चालू करने के सवाल पर स्थानीय अफसरों और भारत सरकार में बडा मतभेद रहा। स्थानीय अफसर रैयतवारी चालू करने के लिये बहुत लड़े और अन्त में उनकी विजय भी हुई। लेकिन बरार की कृषि बुरी स्थिति में थी। १८६६ के बरार के दर रैयती कानून में निम्नलिखित व्यवस्थाएँ हैं—

नियम ६, उपनियम ४—जो बटाई की जमीन जोतता है वह दररैयत है।

प्रमुख उपज, कपास के बाजार भाव का चढ़ाव उतार बहुत तेज और खतरनाक होता है। नीचे के चार्ट से मोटे तौर पर बम्बई के बाजार में कपास के मूल्य में घट-बढ़ का पता लगता है। यह चार्ट बम्बई की खान्डी को आधार मानकर बनाया गया है, जो ७८४ पौंड के बराबर है;

वर्ष	दर
१८६७ से ७५	२३० रुपये
१८७८ ,, ८८	२०३ ,,
१८८८ ,, ९८	१९० ,,
१९०३ ,, १९०४	२२२ ,,
१९०८ ,, १९०९	२४० ,,

बरार के कपास व्यापार के महत्व पर गजेटीयर ने भी काफी जोर दिया है। इसने बरार में कपास के इतिहास का वर्णन इस प्रकार किया है—

"बरार की व्यापारिक स्थिति में कपास का व्यापार बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इससे अनाज की खेती आधी हो गयी है और विदेशी व्यापार में आधा से अधिक कपास का स्थान रहता है। सारी असुविधाओं के बावजूद कपास की खेती के विकास में केवल एक शताब्दी लगी है।' यहाँ कपास पैदा करना पहले भी लाभदायक पाया जाता था। उत्पादकों की दयनीय अवस्था, उनके ऊपर कर्ज का बोझ, गैरमुस्तकिल बन्दोबस्ती; ये सभी उपज में समानरूप से बाधक थे। परन्तु कपास की खेती में तो और भी कठिनाइयाँ, थीं क्योंकि बिक्री केन्द्र दूर पडता था, कीमत कम थी और आरंभिक यातायात में सैकडों बाधाएँ थीं। सारादेश अशान्त था। १८२५, १८२६ मे, जैसा कि कहा, जाता है बम्बई और हैदराबाद के सौदागर, विकाजी और पेस्तनजी ने सर्व प्रथम सीधे बम्बई को कपास का निर्यात किया था। उसका कुल वजन १ लाख २० हजार पौंड और दाम २५-

हजार रुपए था। यह सुनने में तो थोडा लगता है, पर इसे ढोने के लिये ५०० बैलों की जरूरत पडी थी। इसी उत्साही फार्म ने १८३६ में सर्वप्रथम रुई की गाठ बनाने का कारखाना खोला था। पर लम्बे अर्से तक यह काय किसी विशेष उन्नति के बिना चलता रहा।"

रुपये-पैसे की सस्ती के कारण, स्वभावतः मनुष्य खर्चीली आदतों में फस जाता है और उसके बाद सहसा मूल्यका पतन हो जाय तो मूल्य की वृद्धि की आशा पुनः किसानों को साहूकारों के द्वार का लालच उत्पन करती है। खास करके १८९९-१९०० के अकाल और १९३१-३२ के ह्रास ने बरार के किसानों की रीढ़ ही तोड दी। १८९९-१९०० के भीषण अकाल से इस शताब्दी का प्रारभ हुआ। किसानों ने अपने सोने चाँदी और जानवर बेच दिए तथा जमीन बन्धक रख दी। अकेले अकोला जिले में १८९९ और १९०० में १० लाख ३८ हजार रुपए की जमीन बिकी। १९३२ जाते जाते जमीन की कीमत आधी होगई।

कपास के मूल्य में ह्रास और वृद्धि के अतिरिक्त कपास की कीमत का एक अच्छा भाग व्यवसायी साहूकारों द्वारा प्राय हथिया लिया जाता था। निम्नतालिका शोषण तथा पूजी के निर्माण का चित्र उपस्थित करती है।

अकोला

(१९०२ से ६ वर्षों का औसत, हजार मे)

प्रधान निर्यात	रुपये	प्रधान आयात	रुपए+०
१. रूई	२,०३५०	१. पीस गुड्स	२०००
२. रूई का बीज	७५०	२. लोहा	१०००
३. शराब	४०००	३. भारतीय मिलोंके सामान	७००

४. चमड़ा	२५०	४. मैनुफैक्चरिंग लोहा	४००
५. विविध	१७५०	५. धातु ,	१६००
	२७,१००	६. चीनी	१६००
		७. मसाले	७००
		८. किरासन तेल	४००
		९. नमक	४००
		१०. सुपारी	५००
		११. नारियल	४००
		१२. अन्य	५१००
			१,४८,००

इस प्रकार आयात की अपेक्षा १३० लाख के निर्यात की औसत अधिकता हुई है। आर्थिक प्रश्न अत्यधिक उलझे हैं, लेकिन यह समय है कि जिला के शोषण के लिए विदेशियों द्वारा नफा के रूप में प्राप्त धन को यह निर्यात का बड़ा हिस्सा स्पष्ट करे।

ऊपर दिये आंकड़ों को देखकर पता लगता है कि उनमें ३० लाख से अधिक रुपये की मशीन मगायी गयी है। ये कपास-व्यापारी धीरे-धीरे महाजन बने फिर काफी जमीन के मालिक हो गये और अन्तमें कारखाने के मालिक हुए। इस वर्ग में चार पेशे के लोग हैं—महाजन, व्यापारी, मालगुजारी पर जमीन देनेवाले और उद्योगधंधेवाले। इससे इनका प्रभाव सर्वव्यापी है। इनकी आमदनी की औसत तो ठीक नहीं बतायी जा सकती पर अन्दाजन यह २० करोड के नीचे कभी नहीं होगी। इसका केवल अनुमान किया जा सकता है।

१. कृषि और खेत की आमदनी	१० करोड रुपये
२. रुई का व्यापार	५ " "

३. सूद पर रुपये लगाना	३ ,, ,,
४. कारखाने तथा अन्य उद्योग	२ ,, ,,
	कुल—२० करोड रुपये

महाजनी, जमीन्दारी और व्यापारमें एक साथ लगे इस वर्ग की और पूँजीपति की आय तो इस प्रकार है, और इसके विपरीत खेतिहर वर्ग की कुल आमदनी ३० करोड रुपये है, जबकि वे कुल आबादी का ७५ प्रतिशत हैं। १९३२ की मदी इतनी भयकर थी कि उस समय की सरकार को भी कर्ज सम्बन्धी कानून बनाने के लिये वाध्य होना पडा।

निम्न लिखित कानून इन ५ वर्षो मे पास हुए।

१. १९३३ का मध्य प्रदेशीय ऋण सवधी कानून
२. १९३४ के चक्रवृद्धि ऋण विधान सशोधन
३. १९३६ का मध्य प्रदेशीय महाजनी कानून
४. १९३६ का मध्य प्रदेशीय औद्योगिक मजदूरी कानून
५. १९३७ का मध्य प्रदेशीय कर्जदार सरक्षण कानून

ये सभी वास्तविक लाभ देने म असफल रहे, क्योंकि ये जमीन्दी की सुरक्षा की बुनियादी समस्या का स्पर्श,भी नहीं कर सके। १८९६ में बरार भूमिकर कोड के निर्माण के साथ ही पहली गलती शुरू हुई। दर रैयतों के अधिकारों की रक्षा के लिये बहुत थोडी कोशिश हुई। इस कार्य के लिये १८६६ में दर रैयती नियम बनाये गये। पर वह आरम्भ से ही व्यर्थ रहा। १८५५ और १८६५ के बीच बरार में जमींदारी और रैयतवारी की पद्धति चालू करने के सवाल पर स्थानीय अफसरों और भारत सरकार में बडा मतभेद रहा। स्थानीय अफसर रैयतवारी चालू करने के लिये बहुत लड़े और अन्त में उनकी विजय भी हुई। लेकिन बरार की कृषि बुरी स्थिति में थी। १८६६ के बरार के दर रैयती कानून में निम्नलिखित व्यवस्थाएँ हैं—

नियम|६,उपनियम ४—जो बटाई की जमीन जोतता है वह दररैयत है।

नियम ८ :—जिसकी जोत में जमीन १२ साल से है, उस दरैयत को दिवानीकी डिग्री के बिना जमीन से नहीं हटाया जा सकता।

१८८८ के मालगुजारी विधान में ग्राम व्यवस्थाओं के बारे में अनुच्छेद ७१ में इस प्रकार लिखा हुआ है—

"जो कोई भी किसी तरह से जमीन पर अपना हक रखता है और इसके लिये यह जमींदार को रुपये या शारीरिक श्रम के रूप में भुगतान दिया करता है और इसके लिये सतोषजनक प्रमाण प्राप्त हो, तो ऐसा समझा जायगा कि उसे उस जमीन पर रैयनी हक हासिल है।" बाद की व्यवस्था पूर्णरूप से ऊपर के सकल्प को वैधानिक रूप दे देती है। वर्तमान शताब्दी के आरम्भ के २० वर्षों में जागीरदारी क्षेत्र के रैयतों के सरक्षण के लिये कानून बनाये गये। रैयतवारी क्षेत्र के बगाइदारों सरक्षण के लिये कोई खास कोशिश नहीं की गयी। केवल १९५० का बरार रैयनी कानून सशोधन विधान बना, जिसकी उपयुक्तता शकास्पद थी। १९४९ में पी० के० देशमुख ने एक बिल पेश किया था, जो पीछे वापस लेलिया गया। पिछले अधिवेशन में श्री वेलसारे ने एक बिल उपस्थित किया था, पर किसी को नहीं पता कि यह चुनाव की चाल थी, या इसका कोई प्रयोजन भी था। १९५० के सम्पत्ति-अधिकार-कानून के उन्मूलन ने अपने ३५वें अनुच्छेद के द्वारा मालिक मक्त्बूजा अधिकार की पुष्टि की। इन छोटे-छोटे अधिकारों से बहुसख्यक खेतिहरों का कोई खास लाभ नहीं हुआ।

अब नये बरार का निर्माण तभी हो सकता है, जब यहाँ कर्ज देने, खेती, कपास-व्यापार और कारखानों को चलाने के लिये सहयोग समितियाँ बनाई जायँ। ये चारों कार्य सयुक्त रूप से जनता द्वारा सहकारी सस्था के जरिये होने चाहिये। युग-युग से होनेवाले अन्याय की समाप्ति के लिये मक्तादारों, बगाईदारों का स्थायी तौर पर उचित मालगुजारी निश्चित हो तथा हर तरह की बन्दोबस्ती तुरत रोकी जाय।

चम्पारन में जमीनों की लूट

'निलहे' गये 'मिलहे' आये

पिछले डेढ़ सौ वर्षों से चम्पारन की जमीनों की लूट-खसोट जारी है। लन्दन, बम्बई, कलकत्ता, पटना, गया मुजफ्फरपुर, सभी जगहों के तरह-तरह के लोगों ने लाठी, पैसे और कानूनी दाव-पेंच के जोर से चम्पारन के किसानों की जमीनों का अपहरण किया है। नील वालों के अत्याचार से गांधी जी ने उन्हें उबारा तो मिलवाले पहुँच गये। मिलवालों से जमीन बची तो नेताओं ने लिया। इस तरह सारा चम्पारन आज फार्मों से भर रहा है। हाँ, गोरे-साहबों की जगह भूरे-साहबों ने ले ली है। परिस्थिति की इस भयकरता ने कानपुर के जलसे में सोशलिस्ट पार्टी को मजबूर किया कि वह डा० लोहिया, इस लेख के लेखक और सुरेंद्र वहन की एक जाँच कमीशन बहाल करे।

चम्पारन के किसानों की कहानी भारतवर्ष के, किसानों के शोषण की कहानी का एक दर्दनाक अध्याय है। किस तरह महाशक्तिशाली मगध-सम्राट बिम्बसार और अजातशत्रु की विजय-वाहिनी को रोकनेवाले गौरवशाली

लिच्छवियों की जमीन अट्ठारहवीं सदी में स्थानीय सामन्तों-बेतिया, रामनगर, मधुवन और शिवहर—के हाथों में चली गयी, फिर किस तरह १९वीं सदी में ये जमीनें अंग्रेज कोठीवालों के हाथों गयी, फिर २० वीं सदी में किस तरह ये जमीनें कलकत्ता और बम्बई के पूंजीपति और बिहार के नेताओं के हाथ में चली गयीं—इसका विस्तृत ब्योरा गहरे अनुसन्धान और खोज के बाद ही दिया जा सकता है।

१७९३ ई० में इस्ट इण्डिया कम्पनी ने चम्पारन की तीन चौथाई जमीनों की मिल्कियत बेतिया, मधुवन और रामनगर के राजाओं को दे दी। चम्पारन का कुल रकवा ३५३१ वर्गमील में से दो हजार वर्गमील आज बेतिया राज में है। चम्पारन की इन्हीं उर्वर जमीनों पर विलायत के कोठीवालों की गृद्धदृष्टि पड़ी। कर्नल हिक्स ने पहला फार्म १८०५ ई० बारा में खोला और १९ वीं सदी के अन्त होते होते अंग्रेजों के कोई सत्तर फार्म चम्पारन की भूमि पर मजबूती से जम गये। इन फार्मों के कब्जे में चम्पारन की करीब आधी जमीनें चली गयीं। इस तरह आप देखेंगे कि चम्पारन की जमीनों की मिल्कियत बेतिया, मधुवन और रामनगर के हाथों में रही और काश्तकारी का हक अंग्रेज कोठीवालों के पास। इसका नतीजा यह हुआ कि किसान मजदूर नरक दुखद जीवन व्यतीत करने लगे।

किस तरह के भयकर जुल्मों से अंग्रेज कोठीवालों ने चम्पारन के किसानों को उनकी जमीनों से बेदखल किया, उसकी लम्बी और दर्दनाक कहानी है। मुख्यतया नील की खेती के लालच ने अंग्रेज कोठीवालों को चम्पारन में खींचा। १९ वीं सदी के मध्य में निलहों के अत्याचार से किस तरह बिहार और बंगाल के किसान काँप उठे थे, यह बिहार और बंगाल के किसान अभी तक भूले नहीं हैं। १८६० के लगभग फरीदपुर के जिला मैजिस्ट्रेट मि० टावर ने अपने मशहूर बयान में कहा था—"एक भी नील का बक्स इंगलैंड नहीं पहुँचता है जो हिन्दुस्तानियों के खून से नहीं रंगा हो।"

इसी समय जांच कमीशन के सामने उन्होंने अपने बयान के सबूत में प्रमाण पेश करते हुए कहा–'मैजिस्ट्रेट की हैसियत के कारण मेरे सामने कितने ऐसे आये हैं जिनके शरीर को कोठी वालों ने भाला से आर-पार छेद दिया है। बहुत से भाले से छेदे जाने के बाद गायब कर दिये गये हैं। इस तरह की खेती की प्रणाली को मैं रक्तपात की प्रणाली कहता हूँ।"

हिंसा और झूठी मुकदमेबाजी के बल पर कोठीवालों ने किसानों को जमीनों से बेदखल कर फार्म बनाये। समय समय पर किसान ऊब उठते थे और छिटपुट बगावत कर बैठते थे। पहली बगावत १८६७ ई० में हुई, फिर १८७७ में। दोनों बगावतें बुरी तरह कुचली गईं। आखिरी और सबसे बड़ी बगावत १९०७ ई० में हुई। यह बगावत उसी साठी से शुरू हुई जिसकी बन्दोबस्ती के खिलाफ बिहार के हर कोने से आवाज उठ रही है। साठी के पास के रहनेवाले शेख गुलाब और सीतल राय नाम के दो अनपढ़ किसानों ने इस बगावत का नेतृत्व किया और खुद इस बगावत के साथ बर्बाद हो गये। कलकत्ता के 'स्टेट्समैन' का विशेष संवाददाता जो इसी बगावत की रिपोर्ट लेने बेतिया आया हुआ था, लिखता है—"बिहार के चम्पारन जिले में बेतिया की इस समय एक अजीब हालत हो रही है। कोठीवाले और रैयतों के झगड़े ने भीषण रूप धारण कर लिये हैं। अंग्रेजों के जानोमाल की हिफाजत के लिये हथियारबन्द सिपाही और गुरखे लाये गये हैं। कुछ इलाकों ने युद्ध का रूप धारण कर लिया है।"

१९०७ ई० की बगावत भी खून की धारा में डुबा दी गयी। परन्तु वहां के किसान आन्दोलन करते रहे। १९११ के दिसम्बर में जब बादशाह पंचम जार्ज इस इलाके से शिकार खेलने के लिये गुजरे, तो इस इलाके के किसानों ने बड़ी तादाद में इकट्ठे होकर अपनी तकलीफ जाहिर की। बादशाहने उनकी दरख्वास्त को भारत सरकार के पास जाँच के लिए भेजा किन्तु नतीजा कुछ नहीं निकला। इसके बाद ही चम्पारन के किसानों के

सवाल को उस समय के पटने के मशहूर अखबार "बिहारी" ने लिया, परन्तु उसका नतीजा सिर्फ यही हुआ कि "बिहारी" के साहसी सम्पादक श्री महेश्वर प्रसाद को सम्पादक के पद से हटना पड़ा। अन्त में चलकर १९१७ में महात्मा गाधी चम्पारन आये। चम्पारन में जो उन्होंने किया वह सभी को अच्छी तरह विदित है।

प्रत्यक्ष रूप से चम्पारन में शान्ति हुई। पर यह शान्ति कब्रिस्तान की शान्ति थी। पिछले सौ वर्षों में अँग्रेज कोठीवालों ने चम्पारन का खून चूस लिया था। वे चम्पारन से गये पर चम्पारन के किसानों को निर्जीव और निष्प्राण बनाकर गये। इसका नतीजा यह हुआ कि पिछले ३० वर्षों में तरह तरह के लोग आये और उनकी जमीनों को हड़प गये। वहाँ के किसानों में यह शक्ति नहीं बची कि वे अपनी जमीनों की हिफाजत कर सकें। कांग्रेस मन्त्रिमण्डल आया, गया और फिर आया। देश की राजनैतिक आरोहण में आसमान जमीन का फरक हुआ। फिर भी उनकी हालत ज्यों की त्यों बनी रही

आज सारा चम्पारन फार्मों से भर रहा है। पूँजीपति, जमींदार, नेता, व्यापारी, तरह-तरह के लोग कलकत्ता, बम्बई, मुंगेर, मुजफ्फरपुर, पटना, छपरा, शाहाबाद से आकर चम्पारन के हर कोने में फार्म बना कर बैठे हैं। किसी भी तरह कहीं भी जिसकी पहुँच हो सकती थी, वह चम्पारन की जरखेज जमीनों के लालच में वहाँ जा पहुँचा है।

कलकत्ते के नेपाली साहब, बम्बई का पित्ती परिवार, हिन्दुस्तान के मशहूर बिड़लाओं के फार्म वहाँ हैं। मैं इसे चम्पारन का चीर हरण कहता हूँ। *आज तो हालत ऐसी है कि मालूम होता है, मानो, चम्पारन कोई अबला* विधवा है, जो पाता है उसकी जमीन को ले भागता है। महात्मा गाधी से लेकर देश के सभी बड़े नेताओं ने माना है कि किसान ही जमीन के मालिक है। फिर क्या काश्तकारीका भी नैतिक हक चम्पारनके किसानों को नहीं है?

अब प्रश्न होता है कि गांधीजी के चम्पारन से जाने के बाद, किस तरह जमीनें किसानों के हाथों से निकल गयीं ? किस तरह पूँजीपतियों और दूसरों ने इतनी कीमती जमीनों पर कब्जा जमाया ? इसका सरल उत्तर है;

(१) ईमानदारी और बेईमानी की खरीदगी से।
(२) सही और फरेब की बन्दोबस्तियों से।
(३) जोर और जुल्म से।

पहले हम किसानों की बेदखली की पृष्ठभूमि को समझने का प्रयत्न करें। व्यापक और बड़े पैमानों पर फार्मों के बनने की कहानी १९३१ ई० से शुरू होती है। यह वही समय है, जब दुनिया एक भीषण आर्थिक संकट काल से गुजर रही थी। गल्ले का दाम नीचे से नीचे जा चुका था। किसानों के लिये ऊँची मालगुजारी चुकाना असंभव था। याद रहे, चम्पारन में मालगुजारी की दर काफी ऊँची है। औसत ५) बीघे के लगभग आ जाती है। पहले नील की खेती की वजह से किसान चढ़ी हुई मालगुजारी दे सकते थे। जब १९१२ के लगभग जर्मनवालों ने नकली नील का आविष्कार कर लिया, तो चम्पारन में नील की खेती खुद ब खुद गिर गयी। किसान उन जमीनों में धान बोने लगे। और धान से ऊँची मालगुजारी चुकाना सम्भव नहीं था। इसी समय जो चम्पारन की जमीनों पर गृद्धदृष्टि लगाये थे; उनके सौभाग्य से सत्याग्रह का आन्दोलन छिड़ा और किसानों ने मालगुजारी देनी बन्द कर दी। इसी की पीठ पर बिहार का प्रसिद्ध भूकम्प आया जिसने यहाँ की जमीनों को बालू और मिट्टी से भर दिया। इन सबों का नतीजा यह हुआ कि बाकी मालगुजारी में हजारों-हजार जमीनें नीलाम हो गयीं। साधारणतया नीलामी के बाद भी जमीन को या तो किसान बटैया और मनठप पर जोतते थे या जमींदार अपनी जिरात करते अथवा दूसरे धनी किसान उसे बन्दोबस्त ले लेते। पर इनमें से एक भी न हुआ। क्योंकि उसी समय मैदान में चीनी कम्पनियों ने प्रवेश किया। पहले

किसानों की समस्याएं

कहा जा चुका है कि चम्पारन के दो हजार वर्गमील पर बेनिया राज का अधिकार है। इस समय बेनिया राज के छोटे-छोटे अफसरों को पैसा देकर मिला लेना मिलवालों के लिए कोई मुश्किल बात न थी। इन्हीं अफसरों की मदद से मिलवालों ने नीलाम जमीनों को सस्ते दर पर बन्दोबस्त लेना शुरू किया। फिर इन्होंने किसानों से भी बहुत सी जमीनें खरीद ली। आपको जानकर ताज्जुब होगा कि चम्पारन की जमीन २०) से ३० रु०) तक प्रति बीघे दर पर खरीदी गयीं। दर का इतना नीचा होना ही बताता है कि किसानों को मजबूर कर ये जमीनें ली गयीं। इस तरह जब मिल के छोटे-छोटे फार्म बन गये तब जमीन छीनने का दूसरा अध्याय शुरू हुआ। बीच में पडनेवाला जमीनों के कास्तकारों को तरह-तरह के झूठे मुकदमों से तबाह किया गया। सरकारी रेकर्ड से पता चलेगा कि किस तरह एक-एक किसान पर दर्जनों गैर कानूनी प्रवेश (Tresspass) और चोरी के झूठे मुकदमे चलाये गये। दूसरी ओर, मिलवालों ने किसानों के लिये अपने अपने खेतों पर आना-जाना मुश्किल कर दिया। चारो तरफ मिलवालों के छोटे छोटे फार्म बन चुके थे। इनके बीच में जिन किसानों की जमीनें पडती थी, उन्हें यदि अपने खेतों पर हल-बैल लेकर जाना हो तो वे मिलवालों के खेत होकर ही जा सकते थे। मिलवालों ने जब रास्ता बन्द कर दिया तो इन किसानों के सामने मिल-मालिकों को अपनी जमीन सौंपने के अलावा कोई दूसरा रास्ता न बच रहा।

अब फार्म बनाने का तीसरा अध्याय शुरू हुआ। जब मिलवालों के कब्जे में गाँव की सभी खेती लायक जमीनें आ गयीं तब उन्होंने परती, चारागाह, नदी और झील के ऊपर नजर डाली। किसानों के लिये अपने जानवरों को पानी पिलाना तक भी असभव हो गया। अभी भी कोई झलडा' जाकर इस अवस्था को देख सकता है। इस तरह की नाकेबन्दी

ऊन कर,,किसान अपने जानवरों को भी बेच डालता है। फिर मजदूरी छोड़ कर उसका कोई सहारा नहीं रहता। इसी पद्धति से मोतिहारी मिल ने जिले की 'राजधानी मोतिहारी के ईर्द-गिर्द छ. हजार बीघे का फार्म बना लिया है।

इन बातों को देखते हुए क्या किसी भी जनता की सरकार के लिये इन फार्मों को सहयोगी प्रथा पर खेती करने के लिये किसानों को वापस करने में जरा भी हिचकिचाहट होनी चाहिए ! सभवतः डा० राजेन्द्र प्रसाद या प्रधान मंत्री बाबू श्री कृष्ण सिंह के फार्म जायज और मुनासिब तरीके से बने हों। परन्तु इससे हमारे दावे में कोई अन्तर नहीं पड़ता। हमारा तो नैतिक आधार पर यहदावा है कि चम्पारन की जमीन चम्पारन के किसानों की होनी चाहिये।

दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न,है बेतियाराज की जमीनों का, जिनकीबन्दोबस्ती की नीति से आज जनता में सबसे ज्यादा क्षोभ है। स्वर्गीय महाराजा हरेन्द्र किशोर सिंह बिना सन्तान के मर गये। उनकी विधवा धर्मपत्नी को सरकार ने पागल घोषित किया और राज को १८९७ ई० में कोर्ट ऑफ वार्डस के प्रबन्ध में ले लिया। तब से महारानी इलाहाबाद में एक किले से नजरबन्द रह रही हैं और बेतिया राज का प्रबन्ध सरकारी विभाग द्वारा होता रहा है। जनमत ने महारानी के पागलपन की सत्यता को कभी स्वीकार नहीं किया। उनका बराबर यह विश्वास रहा कि अंग्रेजों ने कोर्ट ऑफ वार्डस के मारफत गुलछर्रें उडाने के लिये महारानी को पागल घोषित किया है। कांग्रेस मन्त्रिमण्डल के पहले कोर्ट ऑफ वार्डस के अधिकारियों का कठोर व्यवहार और शाही रहन सहन जनता के संदेह की पुष्टि करता था। इन अफसरों का ज्यादा वक्त दावत और शिकारमें जाता था। १९३७ में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल की स्थापना के बाद बेतिया कोर्ट ऑफ वार्डस का पद अंग्रेजों की जागीरें नहीं रह सकीं फिर भी जनता जो चाहती थी वह

उसे कभी नहीं मिली। अंग्रेज और हिन्दुस्तानी कोठीवालों ने पिछले डेढ़ सौ वर्षों में जो जुल्म किए थे उनका थोडा सा भी निराकरण नहीं हुआ। अंग्रेज कोठीवाले एक एक कर अपने फार्म बेतिया राज को सौंप कर चले गये। याद रहे, ये फार्म १९ वीं सदी के खूनीं हाथों से किसानों को बेदखल कर अंग्रेजों ने बनाये थे।

क्या इस समय सरकार का यह धर्म नहीं था कि वह कोर्ट औफ वार्ड स के मारफत इन फार्मों को स्थानीय किसानों को वापस देकर पिछले डेढ़ सौ वर्षों के अत्याचार और शोषण का उन्हें आंशिक मुआवजा देती! सत्तर बरस पहले जिन डागर और हरिजनों को लाठी और संगीन के हाथ अंग्रेज कोठीवालों ने साठी की जमीन से बेदखल किया था, उनकी फ़िक्र क्या सरकार ने की? साठी की बगावत का नेतृत्व करने वाले शेख गुलाब और सीतल राय के वंशधरों को क्या सरकारने याद की! न्याय और धर्म का तकाजा है कि पिछले चालीस वर्षों में जितनी गैरवसूली बन्दोबस्तियाँ हुई है, उन्हें रद्द कर दिया जाय और जमीनें किसानोंको वापस की जाय। सरकार के लिये न्याय का एक ही रास्ता है, यानी चम्पारन के सभी फार्मों को कानूनी ढंग से दखल कर लें और उन्हें सामूहिक प्रथा पर स्थानीय किसानों को खेती के लिये दे दे।

(२)

नई बेड़ियाँ

गाँधीजी अपने पीछे एक महान जन-जागृति चम्पारण में छोड़ते गये। मरणासन्न समाज को नया जीवन मिला। केवल चम्पारण में ही नहीं सारे देश में उत्साह, और आशा की एक लहर दौड़ पडी। परन्तु फिर भी *गाँधीजी ने स्वयं महसूस किया—"यद्यपि रैयतों को थोड़ी सहूलियतें* दिलाने में मैं सफल हुआ हूँ, लेकिन वे उन सहूलियतों से पूरा फायदा

नहीं उठा सकेंगे ; बल्कि दासता के नये बन्धनों में पुनः जकड़ जायेंगे।"
(चम्पारण सत्याग्रह पृष्ठ २५५)। गाँधी जी की भविष्यवाणी सही निकली।
आगे का इतिहास इन्हीं नयी बेड़ियों का इतिहास है।

निलहों की पीठ पर चीनी मिल मालिकों का प्रवेश चम्पारण में हुआ। "निलहे गये, मिलहे आये"—यह कहावत आज चम्पारण के घर-घर में प्रचलित है। सन् १९२९ और ३४ के बीच एक एक कर ९ चीनी मिलें चम्पारण के विभिन्न हिस्सों में खुल गयीं। आज इन चीनी मिलों के कब्जे में ४० हजार एकड़ जमीन है, जिस पर इनके फार्म हैं। इस थोड़े समय में चन्द व्यक्तियों के पास इतनी जमीन का इकट्ठा हो जाना, आश्चर्य-जनक है। चीनी मिलों के आस-पास के किसानों के हृदय में तो इस बात की स्वाभाविक प्रतिक्रिया होनी चाहिए थी कि वे अपनी जमीन पर अपना कब्जा बनाये रक्खें, कारण मिल के खुल जाने से उन्हें पैदावार की कीमत अधिक मिलने की सम्भावना थी। बिहार के दूसरे जिलों में, जहाँ चीनी-मिलें हैं, वहाँ मिल-मालिक इस प्रकार के फार्म खड़ाकर सकने में सफल नहीं हो सके हैं। फिर चम्पारण में ही उन्हें क्यों सफलता मिली! क्या उन्होंने जमीन के लिये अधिक मूल्य दिये—ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं, जिन पर गम्भीरता से विचार करना होगा।

इन प्रश्नों के उत्तर, किसानों के १० हजार बयानों में मिलेगा, जो कमीशन के सामने पेश किये गये। ये बयान बताते हैं कि किस प्रकार कोढ़िया प्राकृतिक, ऐतिहासिक तथा आर्थिक कारणों की सहायता लेकर मिल मालिकों ने ३० रु० से २०० रु० एकड़ के हिसाब से चम्पारण के किसानों की उस जमीन को खरीद लिया, जिसकी औसत कीमत १०००) रु० बीघा थी।

निलहे गये, लेकिन चम्पारण के किसानों को बरबाद, पामाल तथा शक्तिहीन करके। सन् १८६७ से लेकर १९१७ तक लगातार ५० वर्षों

तक, चलनेवाले निलहा किसान-संघर्ष ने किसानों के प्रतिरोध की शक्ति को चूर-चूर कर दिया। वे पूरे तौर पर थक चुके थे। फिर चलते समय शरह बेशी और तावान के रूप में जो दोलत्ती निलहों ने लगाई, उससे तो सारा चम्पारण ही महाजनों की चंगुल में फँस गया।

अभी किसान दम भी नहीं ले पाये थे कि सन् १९३० की भयानक मन्दी सर पर सवार हो गयी। धान चम्पारण की मुख्य फसल है, उसकी कीमत ४५ प्रतिशत नीचे गिर गई। चावल जो सन् १९२८ में ७॥ सेर के भाव बिकता था, सन् १९३१ में १३ सेर के भाव बिकने लगा। ठीक उसी समय मार्च सन् १९३१ में सारे चम्पारण में ओले पड़े, जिससे रब्बी की फसल मारी गई। जिले के बीचोबीच दस मील की चौड़ाई में एक दाना भी नहीं बच पाया। उसी समय चम्पारण के मोतिहारी थाने में एक लगान बन्दी आन्दोलन भी चल पड़ा। कांग्रेस ने तो चौकीदारी टैक्स बन्दी आन्दोलन शुरू किया था; लेकिन जनता ने उसे लगानबन्दी का रूप दे दिया।

इन सभी घटनाओं के पीछे पीछे आया १९३४ का महानाशकारी भीषण भूकम्प। चम्पारण के कुछ इलाकों की आबाद जमीन बालुकाराशि से ढक गई। हानि का कुछ अन्दाज नीचे के आंकड़ों से लग सकेगा:—

(क) ७९,००० रु० प्राकृतिक दुर्घटना के लिए कर्ज के रूप में ४॥ रु० सैकड़ा सालाना सूद पर सरकार ने दिया।

(ख) १,२७,०००रु० प्राकृतिक दुर्घटना के लिए कर्ज के रूप में ६॥ रु० सूद की दर पर दिया।

(ग) ४,६९,००० रुपये वायसराय ने भूकम्प रिलिफ-फण्ड से मकान आदि बनाने तथा मरम्मत करने के लिये दिया गया।

(घ) १०,७७,१३३ रु० बालू साफ करने के लिये प्रान्तीय सरकार द्वारा कर्ज दिया गया।

इनके अलावा लाखों रुपये गैरसरकारी संस्थाओं की ओर से खर्च किये गये।

व्यक्तिगत महाजनों तथा सहयोगी बैंकों ने, किसान की जमीन कर्ज में लेकर मिल-मालिकों के हाथ बेच दी। उदाहरण के लिये भोलादास, सा० लक्ष्मण टोला, थाना मोतीहारी की दस एकड़ जमीन एक सौ रुपये के कर्ज में लेकर सहयोगी-बैंक ने मोतिहारी-मिल के हाथ बेच दी। इतना ही नहीं, सरकारी कर्जा अदा करने के लिये भी किसानों को जमीन बेचने के लिए बाध्य किया गया। तपेश्वर सहनी, टोला विष्णुपुर, साकिन देकहा, थाना मोतीहारी ने अपने बयान में कहा कि दस से लेकर १५ रु० बीघे की दर पर, उसने सरकार से बालू साफ करने के लिये रुपये कर्ज लिये थे। लेकिन बालू साफ करने में वह असफल रहा। सरकार द्वारा कर्ज अदा करने के लिये तकाजा आने पर, बाध्य हो उसे आठ आने से बारह आने कट्ठे के हिसाब से अपनी जमीन मोतीहारी मिल के हाथ बेच डालनी पड़ी। इन्हीं कारणों से किसानों के हाथों से जमीन निकल कर, चन्द लोगों के पास जमा हो गई। गाँधीजी के चम्पारण से जाने के बाद, करीब २॥ लाख एकड़ जमीन चम्पारण के किसानों के हाथों से निकल कर महाजनों, मिल-मालिकों और अन्य फार्म-मालिकों के हाथ चली गई। कलकत्ता, बम्बई, कानपुर और लन्दन के पूँजीपतियों ने चम्पारण के निवासियों की दुरवस्था से पूरा-पूरा लाभ उठाया।

इनके अलावा अनेक प्रकार के बलप्रयोग का भी सहारा लिया गया। आम तरीका यह था कि मिल-मालिक किसानों की जमीन के चारों ओर जमीन खरीद लेते थे और बाद में अपनी जमीन से होकर उनके हल-बैल का आना-जाना बन्द कर देते थे। इस प्रकार या तो किसानों को जमीन छोड़ने के लिये मजबूर हो जाना पड़ता था—या सस्ती कीमत पर उनकी जमीन खरीद ली जाती थी। नीचे कुछ तरीकों का उल्लेख किया जा

रहा है, जिनका सहारा लेकर मिल-मालिकों ने किसानों को जमीन वेचने के लिये वाध्य किया :—

(१) जमीन पर आना-जाना बन्द करना।
(२) किसानों के खिलाफ झूठे मुकदमे चलाना।
(३) जबरदस्ती कब्जा करना।
(४) पानी का रास्ता रोकना।
(५) गैर-मजरुआ जमीन पर अधिकार करना।
(६) किसानों की फसल बर्बाद करना।
(७) जगली जानवरों का मारना रोकना।
(८) राज के अमलों को मिलाकर किसानों की जमीन को निलाम पर चढाना।
(९) किसानों के पारिवारिक झगड़ों से लाभ उठना।

लौरिया-सुगर मिल्स ने, जो डालमिया-जैन-कन्सर्न के मातहत है किस प्रकार अपना फार्म खोला, उसका विवरण नीचे दिया जा रहा है :—

१९वीं सदी के उत्तरार्द्ध में मि० शा ने परसा कन्सर्न नाम से एक फार्म खोला। उनके उत्तराधिकारी मि० फ्रान्सिस विजियम ने गैर-मजरुआ जमीन को आबाद कर तथा जबर्दस्ती आस-पास के गांवों में हरिजनों को उजाड़कर हरपुरवा, सिरकहिया और भगिआरिया में अपने फार्म की शाखा स्थापित की। हरिजनों द्वारा कमीशन के सामने कही गई दर्द भरी कहानी इस प्रकार है :—"कोठी ने चार बीघे जमीन, जिसे हम दो पीढ़ियों से जोत आबाद करते आ रहे थे, बिना कोई कीमत दिये, छीन ली। सनूची बस्ती जला कर राख कर दी गई। एक सौ आदमियों को जमीन से बेदखल कर अग्रेज निलहों ने अपने फार्म बनाए। तीन कुंवे, जो उस समय भर दिये गये थे, आज भी चिह्न के रूप में मौजूद है। आने जाने का रास्ता बन्द कर दिया गया, और इस प्रकार अनेक तरह से लोगों को तग किया गया। (बयान स० १३४)"

फ्रान्सिस विलियम के उत्तराधिकारी ने १९४३ में तीन लाख रुपये में इन फार्मों को डालमिया जैन के हाथ बेच डाला। फार्म खरीदने के बाद मिलमालिकों ने पथरी, फिरंगी और जगिरहा; तीन बस्तियों को उजाड़ डाला। उनकी जमीन बिना मूल्य दिये जोत ली। इसके बाद कायमी रैयतों को सस्ते दर पर जमीन बेचने के लिये बाध्य किया जाने लगा। गैरमजरुआ जमीन जोत ली गई। मिल के फार्मों के बीच जिस किसान की जमीन पड़ गई, उसे हल-बैल लेकर अपनी जमीन पर जाने से रोक दिया गया। किसानों के खिलाफ झूठे मुकदमे चलाये गये। छिटफुट ढंग से उनकी जमीन जबर्दस्ती जोत ली गई। उदाहरणार्थ, बोगहा (थाना बगहा) के रामरूप कमकर की मृत्यु के बाद, उसकी जमीन जबर्दस्ती जोत ली गई। उसके परिवार में दो नाबालिग बच्चों के सिवाय और कोई नहीं था। उन्हें गाँव छोड़कर भाग जाने के लिये मजबूर किया गया। विधवाओं और नाबालिगों से इस प्रकार की कहानियाँ हर जाँच-केन्द्र पर, कमीशन को सुनने का मौका मिला।

किसानों ने यह भी बताया कि मिल की ओर से फार्मों में दौड़ने वाली रेलगाड़ियों से बचने के लिए कोई व्यवस्था नहीं की गई थी। हर वर्ष कुछ लोग कटकर मरते थे। यहाँ तथा अन्य जगहों में मिल मालिकों के व्यवहार के सम्बन्ध में और भी अनेक शिकायतें सुनने में आईं। मिल द्वारा अधिकृत जमीन की फिहरिस्त नीचे दी जा रही है :—

निलहों से खरीद कर	१८४०	एकड़
जबर्दस्ती कब्जा करके	३५०	,,
सस्ते दाममें खरीद कर	३९०	,,
बेतिया-राज से बन्दोबस्ती लेकर	२००	,,
गैर-मजरुआ जमीन जोत कर	८००	,,
कुल जोड़—	३५८०	एकड़

इस प्रकार विभिन्न चीनी मिलों ने चालीस हजार एकड़ जमीन पर अपना अधिकार जमाया, जिसके लिये उन्हें कुल बीस लाख रुपये से अधिक नहीं देने पड़े। इस सम्पति की कीमत अभी चार करोड़ से कम नहीं होगी। हम इस बात को दावे के साथ कह सकते हैं कि चम्पारण का चीनी भी उसी प्रकार मनुष्य के रक्त से सना है, जिस प्रकार आज से अस्सी वर्ष पूर्व नील चम्पारण-वासियों के रक्त से सना रहता था।

विभिन्न चीनी मिलों के फार्मों के आंकड़े इस प्रकार हैं:—

१.	चकिया, बृटिश इन्डिया कारपोरेशन	— १२०० एकड़
२.	सुगौली, श्री अहमद अली	— १२०० "
३.	लौरिया, श्री शान्तिप्रसाद जैन	— ३५०० "
४.	मझौलिया, मेसर्स मोतीलाल पदम पत	— ४००० "
५.	चनपटिया, बृटिश इन्डिया कारपोरेशन	— ३०० "
६.	नरकटियागंज, बिड़ला ब्रदर्स	— ३००० "
७.	हरिनगर, राज नारायण लालपिती	— १०,००० "
८.	बगहा, खेतान ब्रदर्स	— ४,००० "
९.	मोतीहारी, रामेश्वर लाल नेपानी	— १२,००० "

उपर्युक्त आँकड़ों से पता चलता है कि सबसे अधिक जमीन कलकत्ते के रामेश्वरलाल नेपानी के पास है। यह १२ हजार एकड़ जमीन मोतीहारी शहर की नाक के नीचे है, जो शहर जिले का सदर मुकाम है। गाँव के गाँव उजाड़ कर, वहाँ की जनता को गरीब और फटेहाल मजदूर बनाकर, जिससे कि सस्ती मजदूरी पर उनका उपयोग किया जा सके, मोतीहारी—चीनी मिलने १२ हजार एकड़ जमीन पर अपना फार्म खड़ा किया। यह पहले लिखा जा चुका है कि किस प्रकार जोर जुल्म तथा जाल-साजी से अंग्रेज निलहों ने फार्म बनाए। समूची उन्नीसवीं सदी का इतिहास चम्पारण के किसानों के साथ किये गये अमानुषिक अत्याचार और निर्दयता का दर्दनाक

इतिहास है। किसानों के खून के धब्बेवाले इन्हीं फार्मों को मिल मालिकों ने खरीदा और बहुत कुछ इन्हीं तरीकों से इन्हें बनाया भी। ऐतिहासिक न्याय और समता दोनों का तकाजा है कि ये फार्म चम्पारण के किसानों को लौटा दिये जाँय। जहाँतक मुआवजे का सवाल है, इन लोगों ने लागत से अधिक उपार्जन कर लिया है। यद्यपि चीनी से आमदनी बहुत अधिक होती है, फिर भी अगर फी एकड़ एकसौ रुपये मान लिए जाँय, तो चालीस हजार एकड़ जमीन की दस वर्ष की आमदनी चार करोड़ रुपये हुई। हमलोग फार्मों को तोडकर पुनः छोटी छोटी एराजियों में जमीन बाँटने की सलाह नहीं देते। इन फार्मों को तोड कर छोटी एराजियों में बाँट डालने पर उत्पादन कम होगा तथा कार्य कुशलता भी घट जायगी। अतः जमीन की मिल्कियत तो गरीबों, किसानों और फार्ममजदूरों को दे दी जाय, लेकिन खेती सहयोगी आधार पर ही हो। यही हमलोगों की राय है। इस प्रकार हम न्याय और कार्य-कुशलता दोनों की रक्षा कर सकते हैं। मिल के फार्म चम्पारण के किसानों को अवश्य लौटा दिए जाने चाहिए। जब हम मिल की जमीन कहते हैं, तब हम साधारण अर्थ में इस शब्द का प्रयोग करते हैं। केवल सुगौली मिल को छोड़ कर प्राय. सबोंने जमीन अपने नाम से खरीदी है। इसके पीछे शायद इनकमटैक्स से बचने तथा शेयर होल्डरों को मुनाफे से वंचित रखने का इरादा छिपा हो। मैनेजिंग एजेन्ट को लाखों का मुनाफा होता हो, लेकिन सम्भव है मिल घाटे में चलती हो। इस प्रकार तो एक तरफ शेयर-होल्डरों से अन्याय किया गया है तथा दूसरी ओर चम्पारण के १०,००० परिवारों को वे जमीन बना दिया गया है।

गाँधीजी के चम्पारण छोडने के बीस वर्ष बाद, चम्पारण पुनः दासता की नई जंजीर में जकड गया है।

(लोहिया कमिसन की रिपोर्ट का एक अध्याय)

खेत पैदावार के दामों के जरिये किसानों का शोषण

दाम और सिक्का; ये दोनों आर्थिक संसार में खुलकर काम करने-वाले महत्त्वपूर्ण तथ्य हैं, परन्तु पूंजीवाद के कलाबाज इन्हें ऐसा पेचीदा बना देते हैं कि बड़ों-बड़ों के लिये इनके काम रहस्यमय बन जाते हैं। जर्मनी के मशहूर सिक्का-जादूगर डा० शाख्त ने किस तरह पन्द्रह वर्षतक सिक्कों की जादूगरी से सारे यूरोप को चकाचौंध में रक्खा, यह सभी जानते हैं। साधारण जनता को इसे सरल भाषा में समझाना असंभव सा ही है और इस लेख का यह उद्देश्य भी नहीं है।

आज बाजार में जाइये, २४ रु० मन चावल और ८ रु० जोड़ी धोती है। याने ३ जोड़ी धोतियाँ एक मन चावल के बराबर हो गई। यह किस सिद्धान्त पर हुआ कोई ठीक बता नहीं सकता। क्योंकि चावल और धोती के भाव की गति के अलावे, रूपयों की एक स्वतन्त्र गति बन जाती है। रुपये अपनी मर्जी से भी अक्सर दो वस्तुओं का मेल बैठाते हैं।

रुपयों को गति का खेल अरब-पति और खरब-पति ही खेल सकते हैं। किस तरह इन बड़े पूंजीपतियों के ४० परिवार इस महायुद्ध के पहले सिक्कों के खेल से मंत्रिमंडलों को तोड़ते और बनाते थे, यह १६२२ से १९३७ तक के फ्रान्स की राजनीति को जानने वाले जानते हैं। परन्तु दाम और मुद्रा के इस खेल का एक पहलू है, जिससे संसार के करोड़ों किसानों का जीवन प्रभावित होता है। वह है खेत-पैदावार के मूल्य का औद्योगिक पैदावार के मूल्य के साथ सम्बन्ध कायम करना; क्योंकि खाने के अलावे खेत की सभी पैदावार बाजार में बिकने, याने अब में विनिमय के लिए जाती है। किसानों का सुख और समृद्धि तक, इस बात पर निर्भर है कि बहुत दूर खेत की पैदावार के दाम का सम्बन्ध औद्योगिक वस्तुओं की पैदावार के साथ क्या है।

पूंजीवाद आन्तरिक विरोधों से चलनी सा हो रहा है। नफे की दर अपने नियम से घटती जा रही है। एसिया के पिछड़े भागों पर आर्थिक साम्राज्य कायम कर, अपने तैय्यार माल को उनपर लाद और उनके कच्चे माल को उठा, पूंजीवाद इन छेदों को भरता रहा है। इसमें किसानों के अप्रत्यक्ष शोषण का कितना बड़ा हिस्सा रहा है, इस पर अभी प्रकाश नहीं डाला जा सका है।

आप हिन्दुस्तान के बाजार-भावों का अध्ययन करें, तो आपको पता चलेगा कि १९१५ में जो उद्योग-धंधे के माल के भाव का पलड़ा भारी हुआ, वह बराबर महायुद्ध के पहले तक जारी रहा। भाव तेज या मन्दा हो, तो सभी वस्तुओं को दाम एक से बढ़ने-घटने चाहिए। परन्तु १९१५ के बाद, आप देखेंगे कभी भी खेतों की पैदावार के भाव का चढ़ाव, कारखानों के माल के भाव के चढ़ाव का साथ नहीं रख सका है। छोटे छोटे किसान सारे देश में बिखरे हैं, उनका कोई संगठन नहीं है।

पूंजीपतियों सस्ता कचा माल चाहिये, और सस्ते मजदूर चाहिये। इसलिए, इसने पिछले ३० वर्षों में, कभी उन्हें उचित दाम मिलने नहीं दिया।

जरा नीचे के अंकों का अध्ययन हम गौर से करें। १९१२ के भाव को १०० मानकर हमने यह खाका बनाया है। खेत के पैदावार में चावल, गेहूं, चना, तेलहन, जूट, तथा कपास के भाव लिए गये है। कारखानों के माल में सूतीमाल, नमक, लोहा, और किरासन तेल के भाव लिए गये हैं।

(इन आंकड़ों के लिए लेखक श्री सरकार, डायरेक्टर खेत विभाग, बिहार सरकार का अनुगृहीत है)

खेत के पैदावार के दाम का पूरा इंडेक्स नम्बर	कारखाने के दाम का इंडेक्स नं०	खेत की पैदावार की क्रय शक्ति का इंडेक्स न०	कारखानों के माल की क्रय शक्ति का इंडेक्स न०	कारखानों के माल की क्रय शक्ति का चढ़ाव
१९१२···१००	१००	१००	१००	०
१९१३···१०६	९६	११०	९०	०
१९१४···१२५	९८	११९	८५	२०
१९१५···१०७	१२६	८६	११८	३२
१९१६···११०	१६०	६९	१४५	७६
१९१७···१११	२२२	५०	[illegible]००	१५०
१९१८···१२४	२५४	४९	२०५	१५६
१९१९···१८१	२७९	६०	१५०	८३
१९२०···१६४	२६६	६२	१६०	९८
१९२१···१५५	२२७	६८	१४६	७८
१९२२···१५५	२०९	७४	१३५	६१
१९२३···१२७	१९५	६५	१५०	८५
१९२४···१२९	२०२	६४	१५६	९२
१९२५···१४५	१७९	८१	१२३	४२
१९२६···१४५	१७८	८१	१२३	

१९२७…१२५	१७९	८०	१४३	७२
१९२८…१३२	१६३	८१	१२३	४२
१९२९…१३६	१५९	८६	११८	३२
१९३०…१०७	१५२	७१	१४२	७१
१९३१… ७१	१४२	५०	२००	१५०
१९३२… ७१	१४२	५०	२००	१५०
१९३३… ७२	१३७	५३	१९०	१३७
१९३४… ७०	१५८	५०	२००	१५०
१९३५… ७६	१२६	६१	१६६	१०५
१९३६… ७९	१२४	६४	१५७	९३
१९३७… ८७	१३७	६४	१५७	९३

ऊपर के आंकड़े ही किसानों के शोषण के ज्वलन्त उदाहरण हैं। इन आंकड़ों में आप यह देखेंगे कि यद्यपि १९१९ का भाव १८५ किसानों को फिर कभी नहीं मिला, तौ भी १९२० से १९२९ तक, याने १० वर्ष खेतों की पैदावार की कीमत की दर १४० के आस पास रही, परन्तु १९३१ में ७१ पर जाकर जो गिरा ,, वह फिर कभी नहीं उठा, किसानों की विपत्ति का अन्दाजा आप केवल इस बात से लगा सकते हैं कि १९२८–२९ में खेत की पैदावार की कीमत १०३० करोड़ रुपये थी, वह १९३३–३४ में घट कर ४७३ करोड़ मात्र रह गई। १९३१ और १९३७ के बीच किसानों की कमर टूट गई, जिससे वे कभी पूरे तौर पर उठ नहीं सके।

इस महायुद्ध ने भी किसानों के एक छोटे हिस्से को ही फायदा पहुँचाया। १९४१ तक तो गल्ले का भाव बढ़ने नहीं दिया गया। उसके बाद बढ़ना शुरू हुआ, पर तौ भी वह कभी कारखानों के माल की कीमत के बढ़ाव के साथ कदम नहीं मिला सका। जूट और कपास के आंकड़ों को लेकर हम इसे समझने का प्रयत्न करें। हमारे मित्र श्री माधिन कुर्वे ने इस पहलू पर अपनी पुस्तिका में बहुत अच्छा प्रकाश डाला है।

बाजार भाव

अगस्त १९३९;……१०० (बाजार भाव)

	जूट कच्चा	जूट तैयार	कपास	सूती माल
४०–४१	११३	१३२	१२८	११८
४१–४२	१३७	१८२	१४५	१७८
४२–४३	१५३	१८७	१६१	३१०
४३–४४	२०९	४९२	१२८	४२४
४४–४५	२०७	२५२	१८८	२६३
४५–४६	१८०	२५३	१८२	२७१

कपास का भाव ४३……४४ में २२८ है, तो सूती माल का ४२४। यह क्या बताता है ? कपड़े के कारखाने वालों ने जितनी कीमत चढ़ाई, कपास की खेती करने वाले किसान, कपास की कीमत उतनी नहीं चढ़ा सके। इस महान अन्याय का प्रतिकार क्या राष्ट्रिय-सरकार करेगी ?

पाँच वर्ष के कटु-अनुभव के बाद भी, उनकी बुद्धि ठिकाने नहीं आई। बंगलोर में *अखिल भारतीय कांग्रेस समिति ने चुनाव की घोषणा* को मंजूर कर फिर वही फैसला दिया जिस से भारत सरकार की नीति लगातार विफल होती रही है। चुनाव-घोषणा पत्र में लिखा है;

"लड़ाई के बाद के खाद्य,मूल्यों की नीति ने शहर और देहात के बीच के असंतुलन को कुछ अंश तक कम किया है।"

श्री के० एम० मुन्शी, खाद्य मंत्री, भारत सरकार, ने कुछ महीने पहले कहा था :—

"मेरे सौभाग्य से कम से कम किसानों की हालत पहले से अच्छी

है। शहर तकलीफ में है। पर किसान आशान्वित हो ऊपर देख रहे हैं।"

गाँव की हालतों का यह निष्ठुर आकलन बड़ा ही दुखद है। सरकारी कागजात से बार बार यह सिद्ध कर दिया गया है कि लड़ाई के बाद मुट्ठी भर धनी-किसानों को छोड़ समस्त देहाती जनता को लाभ के बदले हानि ही हुई है। भारत सरकार द्वारा खेतिहर मजदूरों की हालतों की जांच की रिपोर्ट में भी घाटे क पारिवारिक-बजट और उसके परिणाम का अंदाजा लगाया जा सकता है। सरकार की जाच से साफ हो जाता है कि एक खेतिहर मजदूर-परिवार की औसत सालाना आमदनी १९४९ में ४४४.४ रु० थी और खर्च ६१५.८ रु०।

सरकारी जाच के अनुसार खर्च का व्योरा निम्न लिखित है : ······

१ भोजन	······	५२१.७ रु०
२. वस्त्र और जूता	······	३०. ,,
३. जलावन और रोशनी	······	१०.१ ,,
४. घर का किराया	······	३. ,,
५ विविध	······	५१. ,,
	कुल	६१५.८ ,,

इसका मतलब यह हुआ कि भोजन - खर्च भी नहीं चल सका और परिणाम स्वरूप कुछ को छोड़ सभी परिवार कर्ज में डूब गये।

कर्ज का प्रधान कारण खर्च का नहीं जुटना ही है। छोटा किसान बटाइदार बन जाता है। बटाइदार खेतिहर-मजदूर और खेतिहर - मजदूर कर्ज की गुलामी में बुरी तरह फस जाता है। आशान्वित होकर ऊपर देखनेवाले किसानों की यही सच्ची तस्वीर है।

बिहार सरकार द्वारा प्रकाशित चतुर्मासिक रिपोर्ट (१९५०) से जमीन की बिक्री और बंधक के निम्न लिखित आकड़े इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं :

३१ मार्च ५१ को समाप्त होनेवाला चतुर्मास		
जिला	बिक्री रुपये	बंधक रुपये
१. पटना	५०,६८,२४७	२९०,०,३०८
२. गया	२७,६६,४९१	१२,५६,२११
३ शाहाबाद	२८,७७,९६८	२४,८४,४०७
४. मुज्फ्फरपुर	६३,२४,१२८	३६ ८१.९६८
५. दरभंगा	६५,५४,६१३	२५,६८,८९८
६. सारन	३०,७३,८१३	४७,६१,५७६
७. चम्पारण	४२,७३,६४१	३३,७६,६८४
८. मुंगेर	३८,१३,०६६	२३,७५,६४६
९. भागलपुर	३९,०८,७००	१५,१८,५९२
१०. पूर्णिया	४,४६,५२०	१० ०४,०३१
११. संथालपरगना	३,७८,३६९	२९,२३६
१२. रांची	६,८८,२१३	३,८०,३५९
१३. पलामू	३,६४,९१८	९९,४१९
१४. हजारीबाग	१२,७९,४८७	१,९८,७८८
१५. मानभूमि	७,४८,३१७	१,७७,५९५
१६. सिंहभूमि	१६.९०,२५४	४,४६,४०५
जोड़	४,४२,२०,१३९	२,७८,९१,१२९

३० जून ५० को समाप्त होनेवाला चतुर्मास	
बिक्री रुपये	इंधक रुपये
६४,०९,४०५	६६,२५,९६१
२९,७२,५९२	१७,५५,५७८
४९,२०,९६१	८५,८५,२७८
८०,३४,६५३	६५,७८,०२३
६९,८६,७६८	५८,०३,१७६
४०,३९,९७०	१२४,३९,४९९
५९,०७,१२२	६८,८७,४२७
४७,७८,०५०	४६,५८,३१८
४४,५१,७८९	२५,७८,८३७
४२,६१,८७४	१६,६०,०६१
४,४२,३६८	३८,७५८
७,३५,९०७	४,६७,७८८
४,६५,३४७	१,३०,८१५
१४,०२,९१३	२,६१,३९०
५,९०,४७८	२,११,५२२
२,३६,८०२	१०,००,९९६
५,८६,६८,१०७	१,९४,२४,९५

उपर्युक्त आंकड़ों का साफ साफ मतलब यह होता है कि लड़ाई के बाद से सिहार के गरीब-किसानों के हाथ से बिक्री और —

बंधक के जरिये, प्रत्येक साल ३० करोड़ रुपये की जमीन निकलती चली जा रही है।

बिहार सरकार द्वारा प्रकाशित बिहार की राष्ट्रिय आय ने कृता है कि १९४६ से १९४७ में करीब दो करोड़ एकड़ जमीन की कुल आमदनी २०० करोड़ रुपये हुई। इस हिसाब से प्रति एकड़ लगभग १०० रुपये का उत्पादन हुआ। आज तक की रिपोर्टों केआधार पर यह कहा जा सकता है कि पाँच एकड़ से कम जमीन जोतने वाले खेतिहरों की संख्या ७० प्रतिशत है। इसके अनुसार, इस तरह के औसत खेतिहरों को खेत से सालाना आमदनी २०० या १५० रुपये से अधिक नहीं है। उसे इसी आमदनी से खेती का खर्च भी चलाना पड़ता है। गत वर्ष उत्तर प्रदेश की सरकार ने जाँच पड़ताल कर, यह साबित कर दिया है कि खेतिहरों को, रब्बी की खेती में घाटा लगता है। यह साधारणत नजर अन्दाज कर दिया जाता है कि देहाती आबादी के ६० प्रतिशत से अधिक भाग को बिक्री से ज्यादा खरीद करनी पड़ती है। खेती के अधिकांश उत्पादन (७० प्रतिशत तक हो सकता है) का तत्काल उपयोग हो जाता है। इस उत्पादन पर मूल्य की वृद्धि का कोई असर नहीं पड़ता है। दूसरी ओर, वे अन्य आवश्यकताओं की बढ़ी हुई कीमत के भार से तबाह होते रहते हैं। अत- कृषि और औद्योगिक वस्तुओं का मूल्य संतुलन देहाती जनता के लिये अत्यधिक महत्व रखता है।

यह राष्ट्रिय ही नहीं, अन्तर्राष्ट्रिय समस्या है। आज भी दुनियां की अधिकांश आबादी का प्रधान पेशा खेती है। खेतिहरों की तरक्की पर दुनियां की समृद्धि निर्भर है। आज तो उनका जीवन निर्वाह भी मुश्किल से हो पाता है। उन्हें जबतक इस अवस्था से ऊपर नहीं उठाया जाता, तब तक विश्व सुखी नहीं हो सकता। बहुत से सुधारों के बावजूद, उत्पादन भूमि-सम्बन्ध और कृषि तथा उद्योगजन्य वस्तुओं की कीमत के संतुलन

सम्बन्धी मूल प्रश्न, ज्यों के त्यों पड़े हैं। खेतिहरों की तरक्की इन प्रश्नों को हल किये बिना नहीं हो सकती।

गत शताब्दी में एक ओर दुनियां की आबादी बढ़कर दुगुनी हो गई है, दूसरी ओर अन्न और वस्त्र की समस्या पहले ही की तरह ज्यों की त्यों गम्भीर बनी हुई है। पूंजीवादी समाज व्यवस्था में मांग और पूर्ति की जबर्दस्त शक्ति काम करती है। फिर भी यह विशाल जनसमूह की प्राथमिक आवश्यकताओं का पूर्ति भी नहीं कर पाता है। जन साधारण की क्रय-शक्ति नहीं के बराबर है। पूंजीवाद क्रय-शक्ति को ऊंचा उठा सकने में बिलकुल असमर्थ है। दुनियां के किसान आधा पेट खाकर जी रहे हैं। जोसिया स्टाम्प ने ठीक ही कहा है "दुनियां को लागत से भी कम दाम पर भोजन मिल रहा है।" उन्होंने फिर लिखा है कि "१९ वीं शताब्दी में उद्योगपति गिरे हुऐ गेहूं के भाव के कारण ही जीवन-निर्वाह व्यय को अपेक्षाकृत कम कर अधिक मुनाफा कमा सके।"

"यूरोप के खेतिहरों ने १९२७ के "विश्व आर्थिक सम्मेलन" में इस बात की बड़ी शिकायत की कि उन्हें औद्योगिक वस्तुएं ऊंचे भाव में खरीदनी पड़ती है और कृषि की वस्तुएं बहुत ही कम दाम में बेचनी पड़ती है। इसकी वजह यह है कि उद्योगपतियों का तो कार्टेल, ट्रस्ट आदि के मार्फत विश्वव्यापी संगठन है, पर खेतिहर विश्व भर में बिखरे पड़े हैं। यही वजह है कि खेतिहर, उद्योगपतियों की बनिस्बत अधिक बुरी अवस्था में हैं।" विश्व कृषि रायल इन्स्टीट्यूट ऑफ इन्टरनेशनल अफेयर्स नामक संस्था ने १९२५ से १९२७ ई० तक में जर्मनी के एक ऐसे जिले के छोटी एराजी वाले खेतिहरों की आर्थिक स्थिति की जांच पड़ताल की, जिसमें ९८ प्रतिशत खेतिहर जमीन के मालिक हैं। अधिकांश खेतिहरों की आमदनी नकद मजदूरी करने वाले मजदूरों से कहीं कम थी और शत प्रतिशत खेतिहर औद्योगिक मजदूर से कम ही पाते थे। खेतिहर और

उनकी औरत के दस घंटे रोज से ज्यादा और इतवार को भी खटने पर उनकी यह बुरी हालत है।

सिद्धान्ततः किसी भी समय सर्वत्र एक ही दाम रहना चाहिये, किन्तु वस्तु-स्थिति यह है कि कहीं भी सच्ची मंडी नहीं है। मुद्रानीति, व्यापार एकाधिकार और राजकीय दस्त-दाजी ने क्रय-व्यवस्था पर आधिपत्य तथा अनुशासन स्थापित कर रखा है। कृषि-जन्य-वस्तुओं का कम दाम पूर्ति की मांग से अधिक हो जाने के कारण नहीं होता है। पूंजीवाद को अपने आन्तरिक विरोध का मुकाबला करना पड़ता है और अपने गिरते हुए मुनाफे को रोकने के लिये कुछ न कुछ तात्कालिक युक्ति निकालनी पड़ती है तथा खेतिहर पैदावार के उचित दाम को गिराकर, पूंजीवाद मुनाफा कायम रखता है।

शुरू में दिये गये आंकड़ों को संक्षेप कर नीचे दिया जा रहा है। यह तालिका प्रमाणित करती है कि खेती की चीजों के दाम का स्तर कितना अन्यायपूर्ण ढग से गिराकर रखा गया है :

: १९४२ का दाम.........१०० :

खेतो की पैदावार की क्रय शक्ति का इन्डेक्स नम्बर

१९०१	९२	१९२०	६२
१९०२	१०५	१९२१	६८
१९०३	९७	१९२२	७४
१९०४	९४	१९२३	६५
१९०५	११०	१९२४	६४
१९०६	१२५	१९२५	८१
१९०७	११५	१९२६	८१
१९०८	१२४	१९२७	७०

१९०९.........११७
१९१०......... ९८
१९११......... ९५
१९१२.........१००
१९१३.........११०
१९१४.........११९
१९१५......... ८६
१९१६......... ६९
१९१७......... ५०
१९१८......... ४९
१९१९......... ६७
१९२८.........८१
१९२९.........८६
१९३०.........७१
१९३१.........५०
१९३२.........५०
१९३३.........५३
१९३४.........५४
१९३५.........६१
१९३६.........६४
१९३७.........६४

सत्य तो यह है कि खेतीहरों को १८७० से अबतक कुछ समय छोड़ कर उचित दाम मिला ही नहीं। बहुत से देशों के "रजत मान" की जगह स्वर्णमान स्वीकार कर लेने तथा दुनियां के सोने के कुल उत्पादन में कमी के कारण पिछले २० वर्षों से लेकर १८९६ तक दाम लगातार प्रतिशत गिरता रहा है। (रायल इन्स्टीट्यूट आफ इन्टरनेशनल अफेयर्सः) १९३० की मंदी ने तो किसानों की रीढ़ही तोड़ दी। हिन्दुस्तान में दाम गिरने का जिक्र पहले आ चुका है। अमरिका में भी खेती की पैदावार का दाम उद्योग की पैदावार के दाम से कहीं ज्यादा तेजी से गिरा। अमेरिका के खेतिहरों ने जो दाम पाया और उन्हें जो दाम चुकाना पड़ा, उन दोनों का अनुपात १९०९ से १९१४ के आधार पर ४४ प्वान्ट गिर गया। राष्ट्रपति कुलिज ने दाम सन्तुलन के आभावको गिराने को लिये दो-दो बार वीटो का इस्तमाल किया। आखिर राष्ट्रिय औद्योगिक-सम्मेलन-समिति द्वारा बनाया गया खेती के लिये व्यापारिक कमीशन और अमेरिका के "चैम्बर्स आफ कामर्स" के समझौते के बादही खेती के दामों को स्थिर करना

प्रारम्भ हुआ। अमेरिका की सरकार ने १६३८ में कानून बनाकर मूल्य संतुलन के सिद्धान्त को कबूल कर लिया।

अब तो दुनियां के प्रमुखराष्ट्रों ने मूल्य के संतुलन सिद्धान्त को मान लिया है। पंडित जवाहर लाल नेहरु द्वारा प्रस्तुत "आर्थिक प्रोग्राम कमिटी" की रिपोर्ट में भी, जिसे उन्होंने १९४८ की ए० आइ० सी० की बैठक में पेश किया था, लिखा है:—

"ऐसे साधनों का विकास हो, जिन से खेती और गैर खेती की पैदावारों का बराबरी के आधार पर परस्पर विनिमय चल सके। इसके लिये एक ऐसा संतुलित माप दंड तैयार करना चाहिये, जिससे खेती, उद्योग, व्यापारिक तथा अन्य सामानों के दाम बराबरी के आधार पर निश्चित हो सके और खेती की पैदावार को उचित दाम मिल सके।

इसकेलिये प्रो० रंगा, श्री जयप्रकाश नारायण और प्रो० दांतवाला की इक उपसमिति भी गठित की गई थी। सोशलिस्ट पार्टी ने पटना सम्मेलन में, अपने नौ-सूत्री कार्यक्रम को स्वीकार करते हुए मूल्य संतुलन के बारे में लिखा था, खेतिहर और औद्योगिक दामों के संतुलन के सिद्धान्त को स्वीकार करना चाहिये। फिर सोशलिस्ट पार्टी ने अपने चुनाव-मंच में, जिसे जेनरल कौंसिल ने जुलाई ५१ को राची में कबूल किया, इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण बातें लिखी हैं: खेतिहर और औद्योगिक दामों के संतुलन की जिम्मेदारी राज्य पर होगी जिससे कि देहात का शहर के द्वारा शोषण बन्द किया जा सके। जनता के अधिकार पत्र में भी, जो जनवाणी दिवस के अवसर पर भारतीय गणतंत्र के राष्ट्रपति को पेश किया गया था, मूल्य-सतुलन की मांग रखी गयी।

यह स्मरण रखना चाहिये कि न तो यह गिरते हुए दामों को रोकने के लिए करोड़ रुपये खर्च करने का वादा है और न केवल मूल्यों को स्थिर रखने का ही . यह नीति सम्बन्धी घोषणा है। १९४७ में श्री हुवर

के आदेश पर अमरीकी सरकार के श्रम-विभाग के बयान के अनुसार यह रुपये की गारंटी नहीं है। यह व्यापारियों के वादे की पाबन्दी भी नहीं है। यह सरकारी अन्न विभाग की मंशा और नीति कि घोषणा है कि खेतिहरों के प्रति न्याय होगा। भारत सरकार की मौजूदा नीति के मुताबिक यह एक किस्म की "नकारात्मकता की नकारात्मकता" है। सरकार को खेतिहर दामों को जबर्दस्ती गिराने की नीति छोड़ देनी चाहिये। डा० राममनोहर लोहिया ने अपने लेख "कामकरने का प्रोग्राम" (जो १६४६ के मई महीने की अंग्रेजी जनता में प्रकाशित हुआ था) में इस विषय पर प्रकाश डाला है-

"चीजों के दाम, खास तौर से खेतिहर और औद्योगिक दामों के सम्बन्ध का सवाल कठिन है। व्यापार की शर्तें हमेशा खेती के खिलाफ रहती है। चूंकि उद्योग के मालिक मुट्ठी भर पूंजीपत्ति है, उनमें एकता है और वे अपने दामों को गिरने से रोकते हैं। परन्तु खेतिहर चुप्पी साधकर अपने दामों की घटती बढ़ती देखते रहते हैं। खेतिहरों के पास कम मिलकियत है और वे देश भर में बिखरे पड़े हैं। इस कारण खेतिहर के माल की कीमत में तेजी से गिरावट आती है। इस देश मे वस्तुओं के दाम हाल के बर्षों में बहुत ऊंचे रहे हैं। जनता के शरीर और मन को सुख और सुविधा पहुँचाने के लिये दामों का गिरना अत्यावश्यक है। परन्तु दामों के गिरने में विषमता देखी जाती है। खेतिहर-दाम औद्योगिक दामों के मुकाबले में बड़ी तेजी से गिर रहे हैं। प्रान्तीय सरकारों का यह रुख बढ़ता ही जा रहा है, क्यों कि किसी न किसी रूप में कम दाम पर जबरिया गल्ला वसूली जोरों से चल रही है। अभावग्रस्त क्षेत्रों में जबरिया गल्ला वसूली करके तो अंधेर ही ढाहा जा रहा है। औद्योगिक दामों के मुकाबले खेतिहर दामों के कम होने से, खेती की लागत का खर्च भी नहीं निकल सकेगा। यह केवल किसानों को ही तबाह नहीं करेगा, राष्ट्र

की अर्थ व्यवस्था को भी अस्त-व्यस्त कर देगा। तोड़-फोड़ करने वाली पार्टियां इस राजनीति से लाभ उठाकर, देश में अराजकता फैलायेंगी, इस संकट को टालने के लिये खेतिहर तथा औद्योगिक दामों के संतुलन के सिद्धान्त को अवश्य ही कबूल कर लेना चाहिये। और दाम कम करते समय इस संतुलन को हरगिज न तोड़ा जाय। यद्यपि मूल्य—सतुलन के लिये समुचित और लगातार खोज की जरूरत है, फिर भी यह काफी औचित्य के साथ कहा जा सकता है कि कपड़े के भाव को छः आने गज लाकर ही धान तीन चार आने सेर, और गेहूं चार पाँच आने सेर के भाव से वसूला जाय। दूसरी औद्योगिक चीजों के साथ भी ऐसा ही संबंध स्थापित किया जाय। दस वर्ष पहले कपड़े और धान के दामों में ड्योढ़ा का फर्क था, आज यह तिगुना हो गया है। ऐसी हालत में औद्योगिक दामों को ही कम करना चाहिये था। किन्तु इसका उल्टा झुकाव ही यह रहा है। यह निश्चय ही उद्योगों को घूस देकर खुश करने की नीति है। मूल्य संतुलन तत्काल लागू हो।"

यह स्मरण रहे कि हमलोग पूरी या आंशिक रूप में योजनाबद्ध अर्थ प्रणाली की बात कर रहे हैं। रूस को कौन रोकता है? दुर्भाग्य से यूरोपीय समाजवाद उद्योग की देन है और वह उद्योगों का पक्ष लेता है। यही जबर्दस्त बाधा है, जो खेतिहरों को न्याय से वंचित रखती है। प्रो० प्रीकोपोमिज के अनुसार रूस के खेतिहर की औसत आमदनी, वहां के औद्योगिक मजदूर की औसत आमदनी से ५० प्रतिशत कम है। मूल्य के संतुलन-सिद्धान्त को मान लेने का अर्थ होता है दुनिया की अर्थ व्यवस्था में प्रधानता रखने वाले खेतिहरों को, पिछड़ी हुई स्थिति से उठाकर विज्ञान के प्रकाश में लाना।

जो व्यक्ति यह दलील देते है कि सस्ता गल्ला खेतिहर-मजदूरों तथा सीमान्तक खेतिहर के लिये जरूरी है और बढ़े हुए दाम के आंतरिक्त गल्ला बेचने वाला का ही फायदा होता है, वे यह भूल जाते हैं कि हमारी

मांग दाम को बढ़ाने की नहीं है, बल्कि खेतिहर और औद्योगिक दामों को सतुलित करने की है। उनका कहना भी तभी सार्थक हो सकता है जब खेती को इस लायक बना दिया जाय कि किसान खेत में खटने वालों को ज्यादा मजूरी दे सके, नहीं तो उनके कथन में कोई जोर नहीं।

कुछ लोग ऐसी दलीलें भी देते हैं कि मूल्य-सतुलन को लागू करने से पूंजी की वृद्धि पर बुरा असर पड़ेगा। इस कथन के तर्क और औचित्य मेरी समझ में नहीं आते। अगर इसका यह अर्थ है कि खेतिहरों को आधा पेट खाना इसलिये दिया जाय कि उद्योगों को मुनाफा बढ़ाने के लिये कम मजदूरी देनी पड़े और सस्ते कच्चे माल मिल सकें, तब यह कम दाम के जाल में दिहात को फंसाकर उसका अधिक शोषण करना होगा। यह विनाशोन्मुख पूंजीवाद के लिए, अपने गिरते हुए मुनाफे को बढ़ाने की एक चाल है। इतना तो सत्य है कि भारत जैसे देश में उद्योग बढ़ाने के लिये उपभोग को तत्काल कम करने की सख्त जरूरत है। इसका मतलब होता है दस या अधिक वर्षों तक कठिन जीवन व्यतीत करना और अपनी जरूरतों को जबरन दबाना। इसके सिवा समाजवाद लाने का कोई दूसरा रास्ता भी मौजूद नहीं है। किन्तु पूंजी की वृद्धि का यह अर्थ हरगिज नहीं होता है कि बम्बई के उद्योग फर्म के लाखों मजदूरों को शहरी पगडंडियों पर सुलावें और उनकी मंहगाई का भत्ता तथा बोनस खतम कर दे। सब किसी को बराबरी के आधार पर त्याग करना होगा। खेतिहर ही समाज के अन्य हिस्सों से ज्यादा तकलीफ क्यों उठावें?

यह सत्य है कि खेतिहरों के जीवन-यापन का स्तर केवल मूल्य सतुलन से ही ऊंचा नहीं उठेगा। खेती में सुधार, नयी खेती, पैदावार की वृद्धि, खेती पर के बोझ की कमी आदि बातें तत्काल जरूरी हैं। साथ ही बढती हुई जनसंख्या की समस्या का, जिसके कारण जीवन यापन के स्तर को उठाने के समस्त आर्थिक प्रयत्न विफल हो रहे हैं, शीघ्र समाधान होना चाहिये।

समाजवाद और किसान

समाजवादी पुनर्निर्माण के साथ किसान-आन्दोलन का क्या सम्बन्ध है, इसे सिद्धान्त और व्यवहार, दोनों दृष्टियों से समझना प्रत्येक समाजवादी के लिये अत्यन्त आवश्यक है। एक तो यह प्रश्न यों ही पेचीदा है और फिर हिन्दुस्तान की परिस्थिति ने इसे और भी गम्भीर बना दिया है। पिछले १०० वर्षों के दरम्यान इस प्रश्न के ऊपर में यूरोप के समाजवादियों में बराबर मतभेद रहा है। याद रहे समाजवाद रचना और संघर्ष दोनों है। समाजवादी समाज की रूपरेखा क्या होगी, इसके साथ-साथ यह भी सोचना पड़ता है कि समाजवादी क्रान्ति के संघर्ष में कौन-कौन सी जमातें क्रान्ति में शामिल होंगी। क्रान्तिकारी-संघर्ष की आवश्यकता को छोड़ कर केवल सिद्धांत का निर्णय निरर्थक होता है। मुख्य प्रश्न समाजवादी समाज का चित्र बताना नहीं, बल्कि संघर्ष के मैदान में उतर कर 'समाजवादी' समाज का निर्माण करना है।

यूरोप की औद्योगिक-क्रान्ति के बीच समाजवाद का जन्म हुआ। यों तो जब से आदिम समाजवादी-समाज टूटा, तब से ही स्वप्नों के रूप

में समानता की भावना मनुष्य के हृदय को हिलाती रही, परन्तु ऐसे समाज की आर्थिक सम्भावना नहीं रहने के कारण, ये स्वप्न कवियों और महापुरुषों की आहें बन कर विश्व के अन्तरिक्ष में विलीन होते रहे। १९ वीं सदी के विज्ञान और औजारों के विकास ने मानव के इस चिर-स्वप्न के मूर्त होने की सम्भावना पैदा की। इस सदी के प्रारम्भ में पहिले इङ्गलैंड होलैंड और फ्रान्स के कुछ हिस्सों में, पीछे चलकर करीब-करीब सारे यूरोप ने इस स्वप्न को गढ़ने वालों की फौज को कारखानों के मजदूरों के रूप में खड़ा कर दिया। क्रान्तिकारियों ने देखा एक ओर करोड़पति; दूसरी ओर कारखाने के मजदूरों का जन समूह। १९ वीं सदी का पूरा १०० वर्ष एक तरह से यूरोप के किसानों को कारखानों के मजदूरों में परिवर्तित करने का काल कहा जा सकता है। इङ्गलैंड में पूरा चक्का उलट गया। सदी के प्रारम्भ में किसानों की आबादी जो ९० प्रतिशत थी, वह सदी के समाप्त होते-होते १० प्रतिशत रह गयी।

यूरोप के समाजवादी क्रान्तिकारियों ने यह ठीक ही समझा कि यही कारखाने के मजदूर समाजवाद के वाहक होंगे। मजदूर पार्टी और सोशलिस्ट पार्टी पर्यायवाची शब्द बन गये। समाजवादी क्रांतिकी पद्धति में प्रधान ही नहीं, करीब-करीब सब कुछ ही मजदूरों की जमात रही। इसलिये, उनके सामने किसानों का प्रश्न गौण ही था। फिर भी पूर्वीय यूरप और रूस ऐसे देशों में जहां किसानों की बड़ी तादाद थी, वहां के लिये किसान नीति सम्बन्धी प्रश्न उठते रहे। परन्तु ऐसे प्रश्नों का एक ही दृष्टिकोण था। मजदूरों के समाजवादी संघर्ष में कौन उनका सहायक बनेगा—? इस दृष्टिकोण से मोटे तौर पर लेनिन ने किसानों को निम्न लिखित टुकड़ों में विभाजित किया:—

(१) बड़े जमींदार या जागीरदार
(२) धनी किसान

(३) मध्यम किसान

(४) अर्ध किसान,

(५) खेत मजदूर

पहला टुकड़ा हमारा दुश्मन है, अन्तिम हमारा साथी, यह मोटे तौर पर सभीने मान लिया है। बीच वाले ३ टुकड़ों के बारे में बहसें चलती रहीं, और आज भी जारी हैं। इनमें भी धनी किसान को दुश्मन की कतार में रखा जाय और गरीब किसान तथा अर्ध किसान को साथी बनाया जाय, यहभी अधिकतर लोगोंने मान लिया है। परन्तु मध्यम-किसान के साथ समाजवादी पार्टियों का कैसा नाता हो, इस बारे में यूरप के समाजवादियों में कभी भी एकता नहीं हुई. हमारे देश के समाजवादियों में भी इस प्रश्न पर काफी बहस चल रही है। खेत मजदूरों से, गरीब-किसानों से और मध्यम-किसानों से हमारा कैसा नाता हो, इस पर हिन्दुस्तान के सभी हिस्सों में हृदय-मंथन हो रहा है। इसलिये इस प्रश्न को अच्छी तौर से समझ लेने की आवश्यकता पैदा हो गई है।

सबसे पहिले हमें इस बड़े अन्तर को याद रखना है कि हिन्दुस्तान के समाजवादियों को सिर्फ मजदूर पार्टी नहीं बनानी है। यहाँ की समाजवादी पार्टी किसान, मजदूर और क्रान्तिकारी बुद्धिजीवियों की पार्टी होगी एशिया के किसीभी हिस्से में कोई भी सोशलिस्ट या कम्यूनिस्ट पार्टी विशुद्ध मजदूरों की पार्टी नहीं है। क्रान्ति की दृष्टि से ऐसा प्रयास करना पूरे तौर पर निरर्थक होगा। इस बात को माओत्सेतुंग ने बहुत पहिले समझा था और साहस के साथ कम्यूनिस्ट-आन्दोलन को किसान क्रान्ति के ढांचे पर ढालने का प्रयत्न किया था। हिन्दुस्तान के समाजवादियों के साथ यह प्रश्न नहीं है कि मजदूरों का कौन सहायक बनेगा। प्रश्न है मजदूर और गरीब किसानों के सम्मिलित मोर्चे के साथ समाजवादी निर्माण में उनका कौन सहायक होगा? चीन और हिन्दुस्तान में गाँव

के गरीबों का बड़ा हिस्सा किसी का सहायक बन कर नहीं, क्रान्ति का आधार बन कर खड़ा है। एशिया में पूंजीवाद की कब्र खोदनेवाला सबसे बड़ा समूह खेत-मजदूरों का है। इस अन्तर को याद रख कर ही हमें इस देश की समाजवादी क्रान्ति की नीति (पालिसी) और पद्धति (स्ट्रैटजी) का निर्माण करना चाहिये।

याद रहे, कारखानों के मजदूरों का, चाहे उनकी तादाद कितनी भी छोटी हो, एक निर्णायक स्थान है। इनको छोड़कर समाजवादी क्रान्ति की कल्पना ही नहीं की जा सकती। परन्तु हिन्दुस्तान के किसानों को भारतीय समाजवादी क्रान्ति में कारखानों के मजदूरों के साथ प्रधान स्थान लेना होगा।

किसान व्यक्तिवादी होता है और छिटपुट तरीके से संघर्ष करता है। लेकिन इन कमजोरियों के बावजूद, इतिहास में उसका पार्ट निर्णायक रहा है। यही व्यक्तिवादी भावना एक जाग्रत किसान को अराजकतावादी बना देती है। राजसत्ता और शक्ति के केन्द्रीयकरण को वह घृणा की दृष्टि से देखता है। समाजवादी चेतना-सम्पन्न किसान आगे चलकर समूहवाद और स्वतन्त्रता के बीच सच्चा संतुलन कायम रख सकेगा। परन्तु यह भी याद रखना होगा कि किसानों का समुदाय एक भावना से प्रेरित वर्ग नहीं है। किसानों का धनी टुकड़ा हमारे साथ किसी तरह भी नहीं रह सकता। बल्कि उसके साथ विरोध की भावना तीव्र ही होती जायगी। यह धनी और शोषक ही नहीं बल्कि हिन्दुस्तान की विशेष परिस्थिति में ज्यादेतर हिस्सों में सामाजिक दृष्टि से भी ऊंचा स्थान रखता है। यह भी आज कांग्रेसी सरकारों की कुव्यवस्था से असन्तुष्ट है, परन्तु वह समाजवाद का साथ नहीं दे सकता। उसको अपनेसाथ रखने के प्रयत्न में गांव के गरीबों का बड़ा समुदाय हम से अलग हो जायगा। नतीजा होगा, न तो गांव के गरीब हमें अपना समझेंगे और न गांव के धनी

ही। त्रिशंकु की तरह गांव के, सामाजिक-जीवन में समाजवादी पार्टी लटकती ,रहेगी। इसलिये निश्चित रूप से समाजवादी कार्यकर्त्ताओं को इनका साथ छोड़ देना चाहिये।

लेनिन के विभाजन के अनुसार और उनके विचारों के मुताबिक नीचे की सतह की तीन टुकड़ों को यानी खेत-मजदूर, गरीब किसान और अर्ध-किसान को, जिनकी तादाद गांव की ,८० प्रतिशत से कम नहीं है, हमें अपना आधार बनाना चाहिये। हमारा किसान-संगठन दर असल इन्हीं की संस्था हो। धीरे-धीरे किसान संगठन के रूप को हमें इस तरह बदलना है कि वह गांव के गरीबों की संस्था बन जाय। इसका अर्थ होगा, पुराने अर्थ में किसान-सभा जैसी कोई चीज न रहेगी। पुरानी किसान-सभा या हिन्द-किसान-पंचायत और नये संगठन में बड़ी गहरी खाई होगी।

कोई यह पूछ सकता है कि फिर इसे किसान सभा या किसान पंचायत कहने का क्या हक है और किसान पचायत कह कर गांव के गरीबों के बड़े समुदाय को हम क्या अपने से अलग नहीं करते हैं? यह एक जायज प्रश्न है। सही अर्थ में जब हिन्द किसान ,पचायत खेत श्रमजीवियों की संस्था बन जायगी तब इसका नाम भी बदल कर खेत-मजदूर-पंचायत या खेत श्रमजीवि पंचायत रखा जाना चाहिये।

परन्तु यहाँ प्रश्न यह है कि गांव के गरीबों की कतार को तोड़ देना क्या उचित होगा, और उन्हें तोड़ कर क्या हम क्रांति की शक्ति को देश में मजबूत बना सकेंगे? इसी प्रश्न को सामने रख कर हिन्द किसान पंचायत के सभापति डा० राममनोहर लोहिया ने रीवां में कहा था:—

"किन्तु इस विशाल देहिहर-जनता के सम्बन्ध में वर्ग संघर्ष नहीं है। जो है वह दलगत सनातनी है, जो अक्सर अत्यन्त निर्मम रूप ले लेती है। गरीबों के बीच की यह सनातनी गावों को वर्णहीन और सह-

कारिता के आधार पर संगठित किये जाने से काफी हद तक दूर की जा सकती है। यदि यह बनावटी बड़े संघर्ष का काल्पनिक रूप ले लेगी और किसानों के हितों के लिये आन्दोलन करने वाले यदि कारखानों के मज़दूर-संघों की परम्परा की नकल करेंगे, तो इससे बहुत बड़ी क्षति होगी। उदाहरण के लिये खेतिहर मज़दूरों के संगठन को व्यापक किसान आंदोलन का ही अंग बनाना होगा। यह सही है कि आदर्श गांव की स्थापना के इन दोनों सिद्धान्तों को (क), खेत जोतने वाले का' और (ख) 'वर्ग का अस्तित्व नहीं रहना चाहिये, कभी दृष्टि से ओझल नहीं करना चाहिये।

सच पूछा जाय, तो आर्थिक दृष्टि से गरीब किसानों में और खेत मज़दूरों में कोई अन्तर नहीं। इनमें शोषक और शोषित की भावनाओं को पैदा करना क्रांति की शक्ति को कमज़ोर करना होगा। हमारे चारों मशहूर नारे—

- (१) जमीन को फिर बाटेंगे
- (२) जात-पात को तोड़ेंगे।
- (३) मिल कर खेत को जोतेंगे, और
- (४) जोतने वाला काटेगा

ऐसे हैं जो गांव के सभी गरीबों के लिये लागू होंगे। इस प्रोग्राम को, गरीबों के टुकड़ों को संगठन की एक डोरी में बांधे बिना, पूरा नहीं किया जा सकता। इसी नतीजे पर माओत्सेतुंग भी चीन में पहुंचे थे और इसी नतीजे पर सोशलिस्ट-पार्टी और हिन्द किसान पंचायत की सम्मिलित बैठक भी पहुंची, जो रीवां में २६ फरवरी, १९५० में हुई थी।

इस सम्मिलित बैठक का यह मुख्य फैसला था—

'जिन गांवों में गरीब किसानों तथा खेत मज़दूरों की मिली-जुली आबादी हो, वहां उनका संगठन हिन्द किसान पंचायत के नीचे किया जाना चाहिये।"

अन्य प्रकार के खेत मजदूरों के संगठन के सम्बन्ध में सम्मिलित बैठक में यह निश्चय हुआ था कि —

(१) औद्योगिक फार्मों के मजदूरों को अलग से संगठित कर उस संगठन को हिन्द-मजदूर-सभा से सम्बद्ध करा दिया जाय।

(२) सरकारी तथा अन्य बड़े फार्मों पर काम करनेवाले मजदूरों का संगठन भी अलग से ही किया जाय, लेकिन उनके संगठनों को हिन्द-किसान पंचायत से सम्बद्ध करा दिया जाय।

(३) जिन गांवों में मजदूरों की ६० प्रतिशत या इससे अधिक संख्या हो, वहां खेत-मजदूर-पंचायतें संगठित की जायं तथा उन्हें हिन्द-किसान पंचायत से सम्बद्ध करा दिया जाय।

खेत मजदूरों की कुल संख्या का, १० प्रतिशत से कम ही उपर्युक्त तीन विभागों में रहता है। अतः इस फैसले के आधार पर खेत मजदूरों की बहुत बड़ी संख्या सीधे किसान संगठन के दायरे में चली आती है। इसलिये किसान मोर्चे पर काम करने वाले समाजवादियों की यह नैतिक जिम्मेवारी हो जाती है कि वे किसान संगठन के स्वरूप को इस प्रकार बदल दें कि खेत मजदूर और गरीब किसानों के हृदय में यह भावना पैदा हो सके कि किसान संगठन उनका अपना संगठन है।

इस दृष्टिकोण को मान लेने पर किसान संगठन और मजदूर संगठन में एक जीवित सम्बन्ध कायम हो जाता है और इस सम्बन्ध को वैधानिक रूप देने के प्रश्न पर भी हमको सोचना पड़ेगा परन्तु इस मौलिक दृष्टिकोण को यदि समाजवादी छोड़ देंगे, तो क्रान्ति, की ओर इस देश को तेजी से नहीं बढ़ा सकेंगे।

अब प्रश्न उठता है कि मध्यम किसानों के साथ कौन-सा ताल्लुक रखा जाय ? यह प्रश्न काफी पेचीदा है
टुकड़ों के बीच, जिनमें एक तरफ जमी

दूसरी ओर गरीब किसान, अर्ध किसान और खेत मजदूर हैं, मध्यम किसान लटकता हुआ है। यह कभी धनियों की ओर देखता है और कभी गरीबों की ओर। इसके सम्बन्ध में २३ मार्च १९१९ को रूसी कम्यूनिस्ट पार्टी के सामने अपनी रिपोर्ट पेश करते हुए लेनिन ने कहा था:—

"मध्यम किसानों के साथ कैसा ताल्लुक रखा जाय, इसकी सफाई बहुत जरूरी है। परन्तु यह प्रश्न बहुत पेचीदा है, इसलिये कि परिस्थिति में ही पेचीदापन है। अब तक यह प्रश्न सुलझा नहीं, और न सुलझने वाला ही है।......परन्तु यह स्पष्ट है कि इनके साथ किसी प्रकार की जोर जबर्दस्ती आज नहीं की जा सकती। सामूहिक फार्मों में आने से वे घबड़ाते हैं, यह उनकी गलती है। परन्तु उन्हें धीरे-धीरे समझाना होगा और सामूहिक फार्मों में लाने को राजी करना होगा। यदि कोई समाजवादी यह समझता हो कि इनके साथ आर्थिक सम्बन्ध में हम शक्ति प्रयोग कर अपने उद्देश्य को पूरा कर सकते हैं, तो उससे बड़ा मूर्ख कोई नहीं।"

यह सत्य है कि यह प्रश्न व्यवहार में ही सुलझेगा जैसा कि लेनिन ने कहा था। परन्तु आज की परिस्थिति में इन से झगड़ा मोल लेकर देश में हम क्रान्ति की शक्ति को कमजोर करेंगे। इस लिये गाँव के गरीबों की संस्था जिस नाम से खड़ी हो, उसे इन किसानों को भी अपने साथ ले चलने का पूरा प्रयत्न करना होगा। इस दृष्टि से गांव के गरीबों की संस्था का नाम हिन्द किसान पंचायत रहे, तो हमारे काम में ज्यादा सुविधा होगी। साथ साथ हम जिस व्यवस्था की कल्पना कर रहे हैं, उस व्यवस्था में या तो सभी किसान होंगे अथवा खेत मजदूर। सहयोगी-खेती ही यदि हमारा प्रधान आधार हो, तो उसमें काम करनेवालों को हम क्या कहेंगे? क्या यह बेहतर नहीं होगा कि आज से ही गांव के करोड़ों गरीबों के दिल में इस बात को बैठाया जाय कि जिस ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था

की कल्पना हम कर रहे हैं उसमें सहयोग-समिति के वे ही प्रतिष्ठित सदस्य होंगे, जो सहयोग-समिति द्वारा जमीनों के मालिक होंगे और खेतिहर मजदूर की उनकी जिन्दगी सदा के लिये खत्म हो जायगी। यदि यह हमारी कल्पना है, तो किसान-पंचायत के नाम से ही देश के करोड़ों गरीबों का संगठन' करना क्या अच्छा नहीं होगा? परन्तु, जैसा मैंने ऊपर कहा है, यदि इस संस्था का नाम खेत-मजदूर-पञ्चायत रहे, तो इसमें मुझे कोई एतराज नहीं होगा। परन्तु, गांव के गरीबों की दो संस्थाएँ अलग अलग हों और उनमें आपस के संघर्ष की कल्पना और सम्भावना हो, तो यह क्रान्ति के लिए खतरनाक चीज है। किसान-आन्दोलन को शक्तिहीन बनाने के उद्देश्य से ही विभिन्न राज्यों में खेत-मजदूरों का अलग संगठन खड़ा करने का कार्य कांग्रेसी-मन्त्रियों ने आरम्भ कराया है।

उपर्युक्त दृष्टिकोण का अर्थ होगा, किसान-पञ्चायत के कार्यकर्ताओं को ज्यादा से ज्यादा खेत मजदूरों और गांव के अधपेटे, अधनंगे गरीब किसानों के पास जाना और उनके दिल में बैठाना कि हिन्द-किसान-पञ्चायत उनकी संस्था है। यह काम आज कठिन मालूम पड़ता है, परन्तु याद रहे, इतिहास सस्ते रास्तों से मुहब्बत नहीं करता है।

उपर्युक्त दृष्टि से सही किसान नीति के निम्नलिखित आधार होंगे—

(१) देश की जनशक्ति की तीन चौथाई और प्रारम्भिक साधनों की दो-तिहाई के खेती में लगे रहने के कारण, कृषि हमारे जीवन का आर्थिक केन्द्रबिन्दु बन गई है। विदेशी-साम्राज्यवाद के लगान, सूद और मुनाफे के त्रिविध शोषण, गृह-उद्योगों के विनाश और आन्तरिक कमजोरियों के कारण विगत २०० वर्षों से हिन्दुस्तान के किसान इस कदर पामाल हो गये हैं कि उनके लिये अपने प्राण और प्रतिष्ठा की रक्षा करना आज कठिन हो गया है। कार्यकुशलता एवं न्याय, दोनों दृष्टियों

से हमारे सामाजिक-जीवन के इस हिस्से का जीवन-स्तर बहुत ही नीचे गिर गया है। इनके अधःपतन ने राष्ट्र के आर्थिक ढांचे को, पतन की गहरी खाई में डाल दिया है। समाजवाद की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि वर्तमान राजनीति की अस्वाभाविक शहरी - रुझान को पलट कर गांव तथा गांव के गरीबों की ओर कर दिया जाय।

(२) हिन्दुस्तान की गरीबी की समस्या बढ़ती हुई आबादी और गिरते हुए उत्पादन की समस्या है। दुनिया के १५.५ प्रतिशत आबादी की समस्या को दुनिया के कुल रकवे के २.४ प्रतिशत हिस्से में हल करने की मौलिक समस्या हमारे सामने है।

दुनियां की जमीन का रकबा	३२६० करोड़ एकड़
दुनियां की आबादी	२२६ करोड़ ,,
हिन्दुस्तान का रकबा	८० करोड़ ,,
हिन्दुस्तान की आबादी	३५ करोड़ ,,

इस भयानक असन्तुलन को सन्तुलित किये बिना राष्ट्रोद्धार की कोई भी नीति सफल नहीं हो सकती। जनता के जीवन-स्तर को ऊपर उठाने के लिये किये गये सभी प्रयत्न तब तक असफल होते रहेंगे जबतक आबादी की बढ़ती को रोकने के लिए कोई ठोस कदम नहीं उठाया जाय। गत ५० वर्षों में एक ओर जहां कुल एक करोड़ एकड़ जमीन खेती के अन्दर लायी गयी है, वहीं दूसरी ओर इस अर्से में देश की आबादी आठ करोड़ बढ़ गई है। इस प्रकार प्रति व्यक्ति ७/१० एकड़ भूमि आज खेती के अन्दर है। आज हमारे सामने गरीबी की नहीं, बल्कि बढ़ती हुई है गरीबी की समस्या है।

(३) देश की बढ़ती हुई आबादी की समस्या के अतिरिक्त औपनिवेशिक पूंजीवाद ने हिन्दुस्तान के औद्योगीकरण को रोक रखा है। प्राकृतिक तथा आर्थिक कारणों से मजबूर होकर, देश की जनता की अधिकाधिक संख्या को जमीन की ओर जाना पड़ा। जमीन पर

आबादी का बोझ बढ़ता गया और उसके साथ-साथ जनता की गरीबी भी बढ़ती गई। नीचे के आँकड़ों से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है:—

आंकड़ा

साल	जमीन पर जन-संख्या का बोझ
१८९१	६१.१ प्रतिशत
१९०१	६५.५ ,,
१९११	७२.२ ,,
१९२१	७३.० ,,
१९३१	७५.० ,,

(४) लेकिन इतने से भी किसानों की गरीबी का सच्चा चित्र हमारे सामने नहीं आता। ७५ प्रतिशत काश्तकारों के पास अपनी कोई जमीन नहीं है। खेती पर निर्भर रहनेवाली विभिन्नश्रेणियों का एक खाका हम नीचे दे रहे हैं। (१९३१ ई० की जनगणना के आधार पर)

तफसील	१९३१ में प्रतिशत	आज का अनुमानित प्रतिशत	अनुमानित प्रतिशत के आधार पर जनसंख्या
			करोड़ लाख
(१) काश्तकारी नहीं करनेवाले जमीन-मालिक	२·३	५	१.७५
(२) काश्तकारी करनेवाले जमीन-मालिक	१७·४	१६	५·६०
(३) रैयत	२२·१	२५	८·७५
(४) खेतिहर-मजदूर	२०·१	२२	७·७०
(५) अन्य	४ ५	४	१·४०
कुलः—	६६·४	७२	२५·२०

(प्रतिशत तथा जनसंख्या मोटे तौर पर दिये गये हैं)

(१५) जमीन की मालगुजारी का एक खास हिस्सा या जहाँ कहीं सम्भव हो, मालगुजारी की पूरी रकम तक ग्राम-पंचायतों के हवाले कर देनी चाहिये। आयकर के आधार पर मालगुजारी भी वसूल की जानी चाहिये। आमदनी के आधार पर, कम आमदनी वाले को मालगुजारी की माफी और बढ़ती हुई आमदनी पर मालगुजारी की रकम अनुपाततः बढ़ा कर बांधनी चाहिये।

(१६) यह बात साबित हो चुकी है कि पूंजीपतियों ने मुनाफे की गिरती हुई दर को रोकने के लिये खेती की पैदावार के मूल्य को कारखाने की पैदावार के मूल्य के मुकाबले में कम करके रखा है। इस प्रकार के मूल्यों द्वारा किसानों का भयंकर शोषण किया गया है। दूसरी ओर कारखाने के मजदूरों तथा निम्न मध्यम वर्ग के लोगों की भलाई के लिये आवश्यक वस्तुओं के मूल्य को कम करना जरूरी है। इसका निदान सिर्फ इसी में है कि खेती की पैदावार और औद्योगिक पैदावार के मूल्य में न्याययुक्त संतुलन कायम किया जाय।

(१७) राज, समाज और ईश्वर द्वारा उपेक्षित खेत-मजदूर जिन्हें हम समाज की रीढ़ मानते हैं, आज दासता की अवस्था में पशुवत जीवन व्यतीत कर रहे हैं। गुलामी के बन्धनों के सिवा उनके पास और अपना है ही क्या ? भगवान के मन्दिर का दरवाजा भी उनके लिये बन्द है। जमीन तो उनके पास है ही नहीं। उनकी झोपड़ी भी दूसरों की मर्जी पर खड़ी है। समाज के इन परित्यक्त पुत्रों को अध.पतन की गहरी खाई से ऊपर उठाने के लिये आज सभी सम्भव कोशिशें होनी चाहिये।

(१) इनके सभी नये पुराने कर्ज मंसूख कर दिये जायँ,

(२) इन्हें काम करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये,

(३) इनकी कम से कम मजदूरी तय कर देनी चाहिये,

(१८) सदियों की उपेक्षा और अत्याचार ने आज वनवासी आदिवासियों को युग की प्रगति से बहुत पीछे छोड़ दिया है। इस

ड़ी हुई स्थिति से उन्हें आगे बढ़ाने के लिये शिक्षा-प्रचार, सामाजिक
सांस्कृतिक आन्दोलन आदि हर सम्भव प्रयत्न करना चाहिये।

(१६) इनके सामाजिक संगठनों को तोड़कर पुनः समूहवाद के
धार पर उन्हें संगठित करने का प्रयत्न करना समय और शक्ति का अप-
होगा। इसका सामाजिक संगठन अभी भी अछिन्न है। अतः इन्हें
समाजवादी व्यवस्था की ओर ले जाना चाहिये। केवल इसी प्रकार
इनकी सुन्दर संस्कृति और सामाजिक मनोवृत्ति की रक्षा कर सकते हैं।

(२०) जंगल की सुरक्षा के लिये हर प्रकार की सम्भव चेष्टा होनी
हिये। साथ ही उस पर आश्रित लोगों को उनकी जीविका की
रंटी मिलनीचाहिये। सभी प्रकार की जंगली-पैदावार के व्यापार को
आदिवासियों की सहयोग समिति के अधिकार में दे कर, इस समस्या को
आसानी से हल कर सकते हैं।

(२१) हिन्दुस्तान के गांवों की स्थिति आज अत्यधिक सोच-
य एवं कलहपूर्ण है। जो थोड़ा भी सामाजिक जीवन अवशिष्ट र
या है वह गांव की गैर-मजरुआ जमीन पर ही देखने को मिलता है
व के पारिवारिक-जीवन तथा गांव के रहनेवाले की आदतों पर गैर
जरुआ-जमीन का बहुत ही गहरा असर पड़ता है। इसी गैर-मजरुआ
मीन पर गांव वाले अपनी मवेशियों को चराते हैं। गांव के बच्चे यहं
लते हैं। यहां के तालाब में लोग स्नान करते तथा मवेशियों को जल
लाते हैं। इसी जमीन पर उगनेवाली घास से लोग अपने घरों कं
वनी करते हैं तथा यहीं लाशें जलाई तथा दफनायी जाती हैं। गांव वे
लाबों, चारागाहों, और बगीचों में जब गांव के नरनारी एकत्र होरे
उस समय गांव के सामूहिक-जीवन का थोड़ा आनन्द तो उन्हें मिल
ता है।' लेकिन इस आनन्द की मात्रा तालाबों, बगीचों, और चारा-
हों की संख्या तथा रकबे पर निर्भर करती है। लेकि

(५) काश्तकारों में भी ७५ प्रतिशत वे लोग हैं जिनके पास ५ एकड़ से कम जोत की जमीन है। आबाद जमीन का ८५ प्रतिशत ऊपर के ५ प्रतिशत लोगों के हाथ में है। जमीन पर भारी बोझ के साथ-साथ जमीन के इस असम बँटवारे से स्थिति और भी असह्य बन गई है।

(६) उपर्युक्त समस्याओं के अलावे देश में प्रचलित काश्तकारी कानून के फलस्वरूप सरकार तथा जमीन जोतने वालों के बीच मध्यवर्तियों का एक जबर्दस्त तबका बन गया है, तथा जमीन की लगान में असाधारण वृद्धि हो गई है। भार से लदी हुई इस देश की जमीन में अब ऐसी ताकत नहीं रह गई है कि यह काश्तकार और जमीन के मालिक दोनों का बोझ ढो सके।

(७) उपर्युक्त स्थिति तथा राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक कारणों के चलते किसान पूँजी और साधन विहीन हो गये हैं। उनके पास न तो खेती के लायक औजार हैं, न अच्छी खाद की व्यवस्था है और न सिंचाई का ही कोई अच्छा प्रबन्ध है। वे आकाश के भरोसे खेती करते हैं और किसी तरह अपना दिन काटते जाते हैं।

(८) किसान केवल वर्ग मात्र ही नहीं, बल्कि राष्ट्र की आबादी का ७२ प्रतिशत है। उसका उत्थान राष्ट्र का उत्थान है। अतः आज हमें पुरानी प्रणालियों से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर राष्ट्र के नव-निर्माण के लिये नयी पद्धतियों का अनुसरण करना चाहिये।

(९) काश्तकारी कानून के जाल को तोड़ कर हमें जमीन जोतने वालों तथा सरकार के बीच एक नया और सीधा सम्बन्ध स्थापित करना होगा। सभी प्रकार के मध्यवर्तियों को समाप्त करना आज नितान्त आवश्यक है। उन्हें मुआवजा देना, न तो उचित ही है और न सम्भव ही। देश का मौजूदा-विधान इस रास्ते में रुकावट पैदा करता है इसलिये उसमें भी आमूल- परिवर्तन करने की आवश्यकता है।

(१०) प्रत्येक परिवार पर कम से कम १० एकड़ और अधिक से अधिक ३० एकड़ जमीन का पुनर्विभाजन इस प्रकार करना होगा कि हर परिवार को कम से कम १०० रुपये और अधिक से अधिक ३०० रुपये की मासिक आमदनी हो।

(११) हम उपर्युक्त कार्यक्रम तब तक पूरा नहीं कर पायेंगे, जबतक जमीन पर आश्रित आबादी के एक हिस्से को वहां से हटा कर, कृषि तथा अन्य सहयोगी - उद्योगधंधे खोल कर, उन में नहीं लगा दें।

(१२) फिर भी गैर आबाद जमीन के एक बड़े हिस्से को जब तक खेती के अन्दर नहीं लाया जायगा, तब तक न तो अन्न समस्या हल होगी न जमीन की मांग ही पूरी की जा सकेगी और न लोगों का जीवन-स्तर ही ऊपर उठाया जा सकेगा। इस काम को पूरा करने के लिये खेतिहर-पलटन संगठित करना नितान्त आवश्यक है।

(१३) इसी प्रकार खेती के अन्दर की चौबीस करोड़ एकड़ जमीन की पैदावार बढ़ाने के लिये पानी, खाद तथा अच्छे बीज आदि की व्यवस्था करनी भी जरूरी है। पूंजी विहीन वर्तमान कृषि व्यवस्था में काफी पूंजी लगा कर ही हम इस उद्देश्य की पूर्ति कर सकते हैं।

(१४) संक्रमण काल में जबतक कि जमीन को अधं-बटाई पर लगाने से रोकना सम्भव नहीं हो, काश्तकारों के लिये दखली का हक और उचित लगान निर्धारित करना आवश्यक है। जहाँ जमीन का मालिक खेती में कोई हिस्सा नहीं बंटाता है, वहां उसे मालगुजारी की रकम के दुगना से अधिक नहीं मिलना चाहिये। जमीन सम्बन्धी सभी प्रकार के झगड़ों का अन्तिम निर्णय करने का अधिकार ग्राम पंचायत को मिलना चाहिये।

(१५) जमीन की मालगुजारी का एक हिस्सा या जहाँ कहीं सम्भव हो, मालगुजारी की पूरी रकम तक ग्राम-पंचायतों के हवाले कर देनी चाहिये। आयकर के आधार पर मालगुजारी भी वसूल की जानी चाहिये। आमदनी के आधार पर, कम आमदनी वाले को मालगुजारी की माफी और बढ़ती हुई आमदनी पर मालगुजारी की रकम अनुपाततः बढ़ा कर बांधनी चाहिये।

(१६) यह बात साबित हो चुकी है कि पूंजीपतियों ने मुनाफे की गिरती हुई दर को रोकने के लिये खेती की पैदावार के मूल्य को कारखाने की पैदावार के मूल्य के मुकाबले में कम करके रखा है। इस प्रकार के मूल्यों द्वारा किसानों का भयंकर शोषण किया गया है। दूसरी ओर कारखाने के मजदूरों तथा निम्न मध्यम वर्ग के लोगों की भलाई के लिये आवश्यक वस्तुओं के मूल्य को कम करना जरूरी है। इसका निदान सिर्फ इसी में है कि खेती की पैदावार और औद्योगिक पैदावार के मूल्य में न्याययुक्त संतुलन कायम किया जाय।

(१७) राज, समाज और ईश्वर द्वारा उपेक्षित खेत-मजदूर जिन्हें हम समाज की रीढ़ मानते हैं, आज दासता की अवस्था में पशुवत जीवन व्यतीत कर रहे हैं। गुलामी के बन्धनों के सिवा उनके पास और अपना है ही क्या ? भगवान के मन्दिर का दरवाजा भी उनके लिये बन्द है। जमीन तो उनके पास है ही नहीं। उनकी झोपडी भी दूसरों की मर्जी पर खड़ी है। समाज के इन परित्यक्त पुत्रों को अध-पतन की गहरी खाई से ऊपर उठाने के लिये आज सभी सम्भव कोशिशें होनी चाहिये।

(१) इनके सभी नये पुराने कर्ज मंसूख कर दिये जायँ,

(२) इन्हें काम करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये,

(३) इनकी कम से कम मजदूरी तय कर देनी चाहिये,

(१८) सदियों की उपेक्षा और अत्याचार ने आज वनवासी आदिवासियों को युग की प्रगति से बहुत पीछे छोड़ दिया है। इस

पिछड़ी हुई स्थिति से उन्हें आगे बढ़ाने के लिये शिक्षा-प्रचार, सामाजिक तथा सांस्कृतिक आन्दोलन आदि हर सम्भव प्रयत्न करना चाहिये।'

(१६) इनके सामाजिक सगठो को तोड़कर पुनः समूहवाद के आधार पर उन्हें संगठित करने का प्रत्यन करना समय और शक्ति का अपव्यय होगा। इसका सामाजिक संगठन अभी भी अछिन्न है। अतः इन्हें सीधे सामजवादी व्यवस्था की ओर ले जाना चाहिये। केवक इसी प्रकार हम इनकी सुन्दर संस्कृति और सामाजिक मनोवृति की रक्षा कर सकते हैं।

(२०) जंगल की सुरक्षा के लिये हर प्रकार की सम्भव चेष्टा होनी चाहिये। साथ ही उस पर आश्रित लोगों को उनकी जीविका की गारंटी मिलनीचाहिये। सभी प्रकार की जंगली-पैदावार के व्यापार को आदिवासियों की सहयोग समिति के अधिकार में दे कर, इस समस्या को हम आसानी से हल कर सकते हैं।

(२१) हिन्दुस्तान के गांवों की स्थिति आज अत्यधिक सोचनीय एवं कलहपूर्ण है। जो थोड़ा भी सामाजिक जीवन अवशिष्ट रह गया है वह गांव की गैर-मजरुआ जमीन पर ही देखने को मिलता है। गांव के पारिवारिक-जीवन तथा गांव के रहनेवाले की आदतों पर गैर-मजरुआ-जमीन का बहुत ही गहरा असर पड़ता है। इसी गैर-मजरुआ-जमीन पर गांव वाले अपनी मवेशियों को चराते हैं। गांव के बच्चे यहीं खेलते हैं। यहीं के तालाव में लोग स्नान करते तथा मवेशियों को जल पिलाते हैं। इसी जमीन पर उगनेवाली घास से लोग अपने घरों की छावनी करते हैं तथा यहीं लाशें जलाई तथा दफनायी जाती हैं। गांव के तालाबों, चारागाहो, और वगीचों में जब गांव के नरनारी एकत्र होते हैं, उस समय गांव के सामूहिक-जीवन का थोड़ा आनन्द तो उन्हें मिल जाता है।' लेकिन इस आनन्द की मात्रा तालाबों, वगीचों, और चारागाहों की संख्या तथा रकवे पर निर्भर करती है। लेकिन आज गांव की

गैर-मजरुश्रा-श्राम जमीन, जमीन की बढ़ती हुई भूख तथा जमींदारों की श्रार्थिक लिप्सा का शिकार बन चुकी है। इस प्रकार की तमाम गैर-मजरुश्रा-जमीनों को फिर से लौटाना जरूरी है।

(२२) पूंजी, खरीद-बिक्री तथा खेती की श्रावश्यकता की पूर्ति के लिये गांवों में *समग्र गांव-सहयोग-समितियों* का जाल बिछाना होगा।

(२३) सहयोग समितियों के साथ मिलकर ग्रामपंचायतें गांव की जनता को *स्वायत्त-शासन दे सकेंगी। सभी प्रकार के शोषण एवं* उत्पीड़न का श्रन्त कर प्रजातन्त्र के श्राधार पर संगठित ग्रामीण-जीवन का श्रारम्भ, सहयोग-समिति श्रौर ग्राम पंचायत के झंडे के नीचे ही होगा।

(२४) लेकिन यह भी सत्य है कि सदियों से उपेक्षित भारतीय कृषि-व्यवस्था में शक्ति तथा नवजीवन संचार करने का कार्य केवल सरकार के बल पर ही पूरा नहीं किया जा सकता। नये हिन्दुस्तान के निर्माण के लिये गांव की जनता को प्रति दिन एक घंटा शारीरिक श्रम देना होगा। शिक्षा, रचना, संगठन, श्रौर संघर्ष के कार्यक्रम को एक साथ लेकर चलना होगा।

(२५) इस महान कार्य को पूरा करने के लिये किसानों की एक स्वतंत्र वर्ग-संस्था की श्रावश्यकता है।

(२६) *समाजवादीपार्टी श्रौर किसान संगठन दोनों संस्थाश्रों में* एक पारस्परिक जीवित सम्बन्ध स्थापित करना होगा जिससे दोनों को एक दूसरे से बल मिले।

(२७) किसान श्रगर कुछ करना चाहता है, तो उसे भी पूरे तौर पर संगठित होना होगा तथा श्रपने घरों की सफाई करनी होगी। श्राज जो समाज में ऊंच-नीच का भेद-भाव है, उसे पूरे तौर पर भुला देना होगा। नये समाज की रचना के लिये जिसमें सामाजिक भेद-भाव न हो, समाजवादियोंको *जोरदार संघर्ष करना पड़ेगा। वर्ग-विहीन, तथा जाति-*विहीन समाजकी स्थापना के श्रनन्तर ही नयी संस्कृति पैदा हो सकती है।

समाजवादी ग्रंथमाला की पुस्तकों के मिलने का पता :—

१ सोशलिस्टपार्टी ६ तुलोकरोड बम्बई
२ श्री टी०आर० राव, ११४बी० जे० पटेल रोड, बम्बई ४
३ आधुनिक पुस्तक भवन १३०/२१ कलाकार स्ट्रीट कलकत्ता
४ हिग्गिन बौथम (दक्षिण भारतके सभी रेलवे स्टोलों पर) मद्रास।
५ बालकृष्ण बुक शौप हजरत गंज, लखनऊ।
६ श्री परमेश्वर साहु-५३ न्यू होस्टल ३, बनारस हिन्दु युनिवर्सिटी।
७ श्री नागरमल जैन, जैन एयड सन्स पो० पिलानी, राजस्थान।
८ गोपाल कृष्ण जोशी, डवकरोंका चौथा, मोती चौक पो० जोधपुर
९ समाजवादी साहित्य सदन ४४ शीतला माता बाजार इन्दौर सिटी, मध्य भारत।
१० गोपाल प्रदर्श ८।३५३ बोद्ध गुच्छा टोला, काठमाडूं, नेपाल
११ वैद्यनाथ पुस्तक मन्दिर लहेरियासराय—दरभंगा।
१२ कालेज स्टोर-टावर चौक, दरभंगा
१३ ठाकुर रामेश्वर शर्मा हेडवाल, होस्टल पटना कालेज, पटना
१४ श्री मनमोहन चटर्जी, एजेन्ट, मोतीझील
१५ सच्चू बाबू, मधुबनी